

ॐ

ब्राह्मण ग्रन्थों का वैज्ञानिक दर्शन

महामहोपाध्याय डॉ. आचार्य दयानन्द भार्गव*

पिछले कुछ वर्षों से वेद विज्ञान शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। इस शब्द से यह भ्रम होता है कि शायद वेद में वायुविमान बनाने की पद्धति खोजी जा रही है। वस्तुतः वैदिक साहित्य में विज्ञान शब्द का प्रयोग यज्ञ विद्या की व्याख्या के लिये होता है। विज्ञान शब्द का यही अर्थ वैदिक साहित्य में प्रचलित है—**विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च।**^१ (तैत्तिरीय आरण्यक, ८.५.१, तैत्तिरीयोपनिषद्, २.५.१)

ज्ञान तथा विज्ञान

अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान अथवा यज्ञविद्या का विषय है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ महर्षिकुलवैभवम् का उपोद्घात(पृष्ठ ३) लिखते समय उनके शिष्य महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है— एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या तथा अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणज्ञानं ब्रह्मविद्या। विज्ञान का यज्ञ तथा कर्म से सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५.१) में यह कहकर स्थापित किया गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है— विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च। इसी श्रुतिप्रमाण के आधार पर गीता(१८.४२) पर भाष्य लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि विज्ञान कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्म करने की कुशलता का नाम है— विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्।

यद्यपि ज्ञान और विज्ञान दोनों का क्षेत्र क्रमशः एकता और अनेकता होने के कारण पृथक् है तथापि दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं। अनेक की अवधारणा के बिना एक की अवधारणा निरर्थक है और एक की अवधारणा के बिना अनेक की अवधारणा निराधार है। इसलिए यजुर्वेद(४०.१२) में विद्या और अविद्या के समन्वय पर बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जा विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

* लेखक इस लेख के लिए पण्डित मधुसूदन ओझा तथा पण्डित मोतीलाल शास्त्री के साहित्य से प्राप्त सामग्री के लिये उन दोनों विद्वानों का ऋणी है। वे ही हमारे पथिकृत् हैं। श्रुति-स्मृति तो अवलम्बन हैं ही।

ज्ञान और विज्ञान के इस समन्वय को और भी स्पष्ट करते हुए गोता(७२) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विज्ञान सहित ज्ञान देने की बात कही है-**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। गीता(८१)** में इसी बात को दोहराते हुए कृष्ण ने फिर '**ज्ञानं विज्ञानसहितम्**' कहा है। इसके बावजूद भारत में जब ज्ञान का तो यशोगान हुआ, किन्तु कर्म की निन्दा हुई तो स्वाभाविक था कि विज्ञान का भी हास हो गया क्योंकि जैसा हम ऊपर तैत्तरीय आरण्यक तथा तैत्तरीय उपनिषद् के साक्ष्य द्वारा कह चुके हैं कि कर्म का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान का महत्त्व असन्दिग्ध है किन्तु उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणानुसार ज्ञान के समान ही विज्ञान भी आदरणीय है तथा उपास्य है। परवर्ती काल में बात को भुला देने से विज्ञान तथा तदाश्रित कर्म की उपेक्षा से भारतीय संस्कृति में तो एकाङ्गिता आई वही हमारे हास का मुख्य कारण बनी। जिसे श्रुति विद्या-अविद्या कहती है, उपनिषद् परा-अपरा कहते हैं और गीता ज्ञान-विज्ञान कहती है उसे ही आगम शिव और शक्ति कहते हैं। ज्ञान शिव है, कर्म उसकी शक्ति है तथा शक्तिमान् में अविनाभावसम्बन्ध है- **ज्ञानं शिवः कर्म च तच्छक्तिः शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः**(महर्षिकुलवैभवम् उपोद्घात, पृष्ठ ५)। ज्ञान और विज्ञान के इस अविनाभावसम्बन्ध को आधुनिक काल में इस प्रकार प्रकट किया गया है कि विज्ञान का कार्य विश्लेषण है, ज्ञान का कार्य संश्लेषण है और ये दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, क्योंकि ये दोनों ही कार्य हमारे ही मस्तिष्क के दो भिन्न-भिन्न भागों के कार्य हैं-

हमारे मस्तिष्क का बायां भाग पूर्वापर रूप में विश्लेषण करने में अधिक कुशल है। इसका काम सूचनाओं को सरल रेखाकार क्रमिक रूप में व्यवस्थित करना है। मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बायें भाग को नियन्त्रित करता है, मुख्यतः समग्रता से विचार करता है जो कि संश्लेषण के लिये अधिक उपयुक्त है और जो सूचनाओं को फैलाकर युगपद् देखता है।

यज्ञविज्ञान के दो अङ्ग : अहङ्कारविसर्जन और अनासक्ति

यज्ञ विज्ञान के दो अङ्ग महत्त्वपूर्ण हैं। एक अङ्ग है अहङ्कार का विसर्जन और दूसरा अङ्ग है आसक्ति का त्याग। जब यजमान यज्ञ में आहुति देते समय - **"इदम् अमुकदेवाय, इदं न मम"** बोलता है तो 'इदं देवाय' कहकर आसक्ति का त्याग करता है। यही यज्ञविद्या का वैज्ञानिक दर्शन है। यह वैज्ञानिक इसलिये है कि हमें यह ज्ञान देता है कि विश्व का सारा वैभव प्रकृति का है, मेरा कुछ भी नहीं है। न भूमि मेरी है, न अन्तरिक्ष, न द्युलोक। न अग्नि मेरी है, न वायु, न आदित्य। यहाँ तक कि प्राण, अपान और व्यान भी मेरे नहीं। यह सब प्रकृति का वैभव है। मैं यदि इसके रहस्य को समझूँगा तो अभ्युदय अर्थात् सांसारिक वैभव प्राप्त हो जायेगा और इसके प्रति आसक्ति नहीं रखूँगा तो शान्ति अर्थात् निःश्रेयस सिद्ध हो जायेगा। इसलिये प्रतिदिन के अग्निहोत्र में तीन आहुतियों में अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म तीनों के प्रति आहुति देकर कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आसक्ति और अहंकार का विसर्जन किया जाता है-

ॐ भूर्गये प्राणाय स्वाहा । इदमग्रये प्राणाय इदन्न मम
 ॐ भुवर्वायवे अपनाय स्वाहा । इदं वायवेऽपानाय इदन्न मम
 ॐ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । इदंमादित्याय व्यानाय इदन्न मम

यज्ञविज्ञान और वेद: एक जीवनदर्शन

यज्ञ का सीधा सम्बन्ध वेद से है। अतः सर्वप्रथम वेद के स्वरूप को समझ लेना चाहिए। वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इस अत्यधिक प्राचीनता के कारण उनकी भाषा ही नहीं, विषयवस्तु भी हमारे लिये सुगम नहीं है। वेदों की दुर्गमता का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि पाणिनि से भी पहले यास्काचार्य अपने ग्रन्थ निरुक्त में कौत्सनामक एक व्यक्ति का उल्लेख करते हैं जिनका मत था कि वेदों के मन्त्रों का अर्थ ही नहीं होता— **अनर्थका हि मन्त्राः**। संसार में शायद ही किसी अन्य पुस्तक के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया हो कि इस पुस्तक का अर्थ ही नहीं है। ऐसी पुस्तक की व्याख्या करना कितना दुष्कर कार्य हो सकता है— इस का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थ ऐसा ही दुष्कर कार्य करने का उपक्रम करते हैं। वेदों का अर्थ करने के अब तक जितने प्रयत्न हुए ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रयत्न उनमें सबसे प्राचीन है। इससे ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

आबालवृद्ध यह प्रसिद्ध है कि वेद-मन्त्रों से यज्ञ होता है। यह प्रसिद्धि निर्मूल नहीं है। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों ने वेदों की व्याख्या का माध्यम यज्ञविद्या को बनाया। इसके दो परिणाम हुए— एक तो वेदों को कर्मकाण्ड का ग्रन्थ मान लिया गया (जबकि स्वयं वेद शब्द विद् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ ज्ञान है) सायणाचार्य वेद की कर्मकाण्डपरक ही व्याख्या करते हैं। दूसरे स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों को भी कर्मकाण्ड का ग्रन्थ मान लिया गया। फलस्वरूप वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों ही ज्ञानकाण्ड से बहिष्कृत कर दिये गये। आचार्य शङ्कर से लेकर डॉ राधाकृष्णन् तक सभी दार्शनिक वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की उपेक्षा ही करते रहे। यह मान लिया कि वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में कोई विशेष दर्शन है ही नहीं।

आश्चर्य की बात यह है कि अपने को वैदिक दर्शन कहने वाले षड्दर्शनों में (पूर्वमीमांसा को छोड़कर) कोई भी दर्शन वेद या ब्राह्मण ग्रन्थ का आधार लेकर नहीं चलता, जबकि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार ये दो ही वेद शब्द से अभिहित होते हैं; पूर्वमीमांसा अवश्य ब्राह्मण वाक्यों की व्याख्या करता है किन्तु वह व्याख्या भी कर्मकाण्डपरक ही है। फलतः पूर्वमीमांसा में व्याख्यापद्धति का तो वर्णन है किन्तु कोई प्रमेयबहुल दर्शन नहीं है। इसका कारण हम पूर्वमीमांसा में कोई ऐसी जीवनदृष्टि नहीं पाते जो प्रेरक सिद्ध हो। अतः मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थ दोनों ही दर्शन के क्षेत्र में प्रायः उपेक्षित ही रह गये। इस पृष्ठ भूमि को देखें तो पिछली शताब्दी में दो कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुए। एक कार्य श्री अरविन्द की वेदमन्त्रों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का है जिसके कारण वेदमन्त्र कर्मकाण्ड के

संकीर्ण दायरे से बाहर आये और दूसरा कार्य पण्डित मधुसूदन ओझा का है जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों की कर्मकाण्ड परक व्याख्या को स्वीकार करते हुए भी सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया कि ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकाण्ड दर्शन की एक गहरी तथा सुदृढ समझ पर टिका है। प्रस्तुत लेख में हम उसी दर्शन की एक स्थूल रूपरेखा दे रहे हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों के अथवादवाक्य : कर्म की इतिकर्तव्यता की उपपत्ति

प्रसिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ करने की विधि दी गयी है। इस भाग को विधिभाग कहा जाता है। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में उस विधि के साथ उस विधि की उपपत्ति भी दी गयी है। इस उपपत्ति भाग को अर्थवाद कहा जाता है। जिनकी रुचि यज्ञों के अनुष्ठान में थी उन्होंने विधिभाग को तो महत्त्व दिया किन्तु अर्थवाद भाग को उपेक्षित कर दिया। श्रौत सूत्रों में यही हुआ। परिणाम यह हुआ कि अर्थवाद भाग हमारे चिन्तन का विषय ही नहीं बन सका। पण्डित मधुसूदन ओझा ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थवाद भाग को चिन्तन का विषय बनाकर ब्राह्मण ग्रन्थों का एक दर्शन ही खड़ा कर दिया। इसी दर्शन को उन्होंने विज्ञान नाम दिया क्योंकि जैसा हम आरम्भ में कह चुके हैं विज्ञान शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में यज्ञ की व्याख्या के अर्थ में होता रहा है— **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्मापि च**। पण्डित मधुसूदन का ओझा का यह कार्य केवल शैक्षणिक दृष्टि से ही महत्त्व का नहीं है, अपितु इसका एक गम्भीर गुरुतर परिणाम है—ज्ञान और कर्म का समन्वय। विद्या-अविद्या; पराविद्या-अपराविद्या, ज्ञान-विज्ञान आदि शब्दों द्वारा जिस समन्वय की चर्चा वेदों से गीता तक होती रही है, पण्डित ओझा के प्रयत्न से उस चर्चा को एक सुदृढ शास्त्रीय आधार मिल गया। यह कार्य राष्ट्रिय महत्त्व का है। शैक्षणिक दृष्टि से देखें तो पण्डित ओझा ने ब्राह्मण ग्रन्थों के माध्यम से न केवल मन्त्र-भाग और उपनिषद् भाग के बीच सेतु निर्मित किया प्रत्युत यज्ञ की विशुद्ध वैदिक अवधारणा को श्रीमद् भगवद्गीता से इस प्रकार जोड़ दिया कि सम्पूर्ण वैदिक संस्कृति में एकवाक्यता स्थापित हो गयी।

हम इस लेख में पण्डित ओझा के अनुसन्धान के आधार पर ही ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरणों से यह प्रकट करने का विनम्र प्रयास करेंगे कि ब्राह्मण ग्रन्थ जिस समग्रदृष्टि का प्रतिपादन करते हैं वह दृष्टि दार्शनिक दृष्टि से नवीन तो है ही, वर्तमान में प्रासङ्गिक भी है। (इतना आग्रह पण्डित ओझा का अवश्य रहा है कि इस दृष्टि का आधार श्रुति है, इसे कोई उनका अपना नया प्रस्थान न मान ले; वे केवल श्रुति की ही व्याख्या कर रहे हैं।)

ब्राह्मणग्रन्थों में तत्त्ववेद का निरूपण : वेद ब्रह्म हैं

ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण इसलिए पड़ा कि वेद परम्परा के अनुसार ब्रह्म हैं और ब्राह्मण उनकी व्याख्या हैं—**वेदो ब्रह्म** - (जैमिनीयब्राह्मणोपनिषद् ४.१११.४.३) वेद अर्थात् ब्रह्म की व्याख्या जिन ग्रन्थों में की गयी हो वे ग्रन्थ ब्राह्मण नाम से अभिहित हो गये। वेद ब्रह्म कैसे हैं इसका उत्तर भी ब्राह्मण ग्रन्थों में ही दिया गया है। सामान्यतः हम 'वेद' से ग्रन्थों को समझते हैं, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ बारम्बार यह समझाते हैं कि वेद केवल ग्रन्थों का नाम नहीं है अपितु वेद एक तत्त्व भी है जिससे सृष्टि का निर्माण हुआ। ब्राह्मण

ग्रन्थ कहते हैं कि अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ-अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः- (शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.३) तथा सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत वायोर्यजूषि आदित्यात्सामानि-(शाङ्ख्यानब्राह्मण ६.१०) ब्राह्मण ग्रन्थों के इन वचनों का अनुमोदन स्मृति ने भी किया-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृक्यजुःसामलक्षणम् - (मनुस्मृति १२.१८)

स्पष्ट है कि ऋक्, यजु और साम केवल ग्रन्थों के नाम नहीं हैं क्योंकि कोई भी ग्रन्थ अग्नि, वायु और सूर्य से उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः ऋक्, यजु और साम एक तत्त्व हैं और इन तत्त्वों का विवेचन जिन ग्रन्थों में हुआ उन ग्रन्थों का भी नाम ऋक्, यजु और साम पड़ गया-- यह एक दूसरी बात है इस प्रकार वेदतत्त्व तथा वेद ग्रन्थों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। स्वयं ऋग्वेद का पुरुष सूक्त भी कहता है कि ऋक्, साम और यजु एक यज्ञ से उत्पन्न हुए -

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत - (ऋग्वेद १०.९०.९)

स्पष्ट है कि यज्ञ से कोई ग्रन्थ उत्पन्न नहीं हो सकते।

तत्त्व वेद से सृष्टि

प्रश्न होता है कि ऋक्, यजु और साम कौन से तत्त्व हैं? उत्तर ब्राह्मण ग्रन्थ में ही दिया गया कि ऋक् से सारे मूतं पदार्थ उत्पन्न हुए, यजु से सारी गति आयी, साम से सारा तेज आया और ब्रह्म से ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ -

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः

सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्

सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्

सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥ - (तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.२.९)

इस ब्राह्मण वाक्य को यदि एक वाक्य में कहें तो ऋक्, यजु और साम वे तत्त्व हैं जिनसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई। इस अर्थ में वेदों को ब्रह्म कहना उचित ही होगा, क्योंकि ब्रह्म से ही सब सृष्टि उत्पन्न हुई है-

जन्माद्यस्य यतः - ब्रह्मसूत्र १.२

ब्राह्मण ग्रन्थ इसी अर्थ में वेद की व्याख्या करते हैं कि वेद ब्रह्म है जिससे सारी सृष्टि बनी।

सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद के भाष्य की भूमिका में वेद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है- विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद् विचारणे एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। - (सायण, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. २५)

अभिप्राय यह है कि वेद शब्द सत्, चित् और आनन्द को अर्थात् सच्चिदानन्द को बताता है। इस अर्थ में भी वेद ब्रह्म का ही वाचक है।

ब्रह्म से सृष्टि हुई तो वेद से ही सृष्टि हुई क्योंकि वेद ब्रह्म ही है- यह मनुस्मृति में तो स्पष्ट कहा गया है-

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसतिगुणकर्म्मतः- (मनुस्मृति, १२.१८)

अतः ब्राह्मण ग्रन्थों पर विचार करते समय हमारे सम्मुख मुख्य बिन्दु यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि विद्या की प्रक्रिया किस प्रकार खोली गयी है। जहां तक मन्त्रभाग का प्रश्न है नासदीय सूक्त और पुरुष सूक्त जैसे सूक्तों में सृष्टि विद्या का विचार किया गया है। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों का सृष्टि विद्या पर विचार करना वेदमूलक ही है। विश्व का उद्भव कैसे हुआ यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए रहस्य का विषय बना हुआ है। प्राचीनकाल में भी इस विषय पर बहुत ऊहापोह हुआ और निष्कर्ष यह निकला कि विश्व का उद्भव ब्रह्म से हुआ। ब्रह्म चेतन है और एक है। उससे यह जड और विविध प्रकार की सृष्टि कैसे बनी इस विषय का विवेचन सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं होता इसलिए वेद में कहा गया कि वेद के रहस्य को कुछ ही लोग समझ पाते हैं, अन्यथा अधिकतर लोगों के लिए वेद का केवल शब्द ही रह जाता है, उसका अर्थ प्रकट नहीं हो पाता-

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच

मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे

जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥- (ऋग्वेद १०.७१.४)

ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्व इसमें है कि इस रहस्यमय विषय को बुद्धिगम्य बनाया गया। इसलिए वेद की व्याख्या के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्व सर्वोपरि है। ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्व इसलिए भी है कि जिस सृष्टि के उद्भव की खोज आधुनिक वैज्ञानिक कर रहे हैं उसी समस्या का समाधान ब्राह्मण ग्रन्थ भी कर रहे हैं। इस प्रकार ब्राह्मण जहाँ एक ओर वेद की व्याख्या करने के कारण प्राच्यविद्या के लिए महत्वपूर्ण है वहाँ दूसरी ओर सृष्टि के उद्भव की खोज में वैज्ञानिकों के सहायक होने के कारण उनके लिए भी उपयोगी हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ की दृष्टि और आधुनिक विज्ञान : देवतत्त्व और क्राण्टम

ब्राह्मण ग्रन्थों का इतना महत्व होने पर भी अनेक वेद के विद्वानों ने उनकी कटु आलोचना की है उदाहरणतः मैक्समूलर ने कहा है- No one would have supposed that at so early a period, and at so primitive a state of society, there could have risen up a literature which for pedantry and downright absurdity can hardly be matched anywhere. The general character of these works is marked

by shallow and insipid grandiloquence, by priestly conceit, and antiquarian pedantry.--(Max Muller. A History of ancient, Sanskrit Literature, Varanasi 1968, P. 388.)

इसका ही समर्थन करते हुए भारतीय विद्वानों ने भी ब्राह्मण ग्रन्थों को विज्ञान के युग आने से पहले की रचना माना है-- (Thite G.U. , Sacrifice in the ब्राह्मण Text, Poona 1975. Page 5.)

प्रश्न यह होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की ऐसी कटु आलोचना क्यों हुई? यह नहीं मानना चाहिए कि यह आलोचना दुर्भावना वश की गयी है। वस्तु स्थिति यह है कि जिस युग में मैक्समूलर यह आलोचना कर रहे थे उस युग में विज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में परमाणुवाद पर ही पहुंच पाया था जबकि आज विज्ञान परमाणु से आगे क्वाण्टम सिद्धान्त पर पहुंच गया है। क्वाण्टम का अर्थ है ऊर्जा-समूह। आज विज्ञान ने यह जान लिया है कि सृष्टि का मूल तत्त्व कोई ठोस कण नहीं है, अपितु तरल ऊर्जा है। दूसरी ओर ब्राह्मण ग्रन्थ प्राणों से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। जिन देवों की स्तुति में वैदिक ऋषि मन्त्रों का गान करते हैं वे देव प्राण ही हैं - सर्वेऽपि देवाः प्राणाः - (शतपथब्राह्मण, ७.५.१.२१) प्राण ऊर्जा ही है, किन्तु यह सजीव ऊर्जा है, निर्जीव ऊर्जा नहीं। अभिप्राय यह है कि क्वाण्टम सिद्धान्त आने के बाद देवों से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानना अवैज्ञानिक नहीं रह गया प्रत्युत पूर्णतः वैज्ञानिक बन गया है- देवेभ्यश्च जगत् सर्वम्। (मनुस्मृति ३.२०१) इतना विशेष है कि जहां आधुनिक विज्ञान ऊर्जा से मैटर और मैटर से ऊर्जा का परस्पर विनिमय संभव मानता है वहां ब्राह्मण ग्रन्थ ऊर्जा से आगे चेतना तक जाते हैं- वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः१३-(ऐतरेयारण्यक, २.३.३.१५) अर्थात् मैटर चेतना में और चेतना मैटर में बदल सकती है। इसी आधार पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड टिका हुआ है, जहाँ मन्त्र के बल से इष्ट पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है। मन्त्र चेतना की शक्ति ही है- मननात्मन्त्रः। आधुनिक विज्ञान जहाँ विद्युत-शक्ति पर टिका है वहाँ वेद विज्ञान मन्त्र-शक्ति पर टिका है। आइंन्सटीन ने जहाँ हमें यह सिद्धान्त दिया की पदार्थ ऊर्जा में और ऊर्जा पदार्थ में बदल सकती है - $E=Mc^2$, वहां वेद ने हमें यह सिद्धान्त दिया की ऊर्जा चेतना में और चेतना ऊर्जा में भी बदल सकती है अर्थात् आधुनिक विज्ञान पदार्थ और ऊर्जा के द्वैत को मानता है किन्तु वेद पदार्थ, ऊर्जा और चेतना की त्रयी को मानता है। इस कारण वेदविज्ञान चेतना-मूलक है न कि जड-केन्द्रित।

यज्ञः प्रकृति की कार्यप्रणाली

अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है और यह यज्ञ भुवन का केन्द्र बिन्दु है- यज्ञमाहुर्भुवनस्य नाभिम्(तैत्तिरीय संहिता ७.४.१८.२)। जिस पदार्थ में दूसरा कोई पदार्थ आहुति बनता है उस आहुति के पूरे भाग को वह पदार्थ आत्मसात् नहीं कर पाता। जितने भाग को वह आत्मसात् करता है उतना उसका अन्न है, ब्रह्मौदन है- यत्सौम्यमाहरन्ति तेन ब्रह्मौदनः(जैमिनीयब्राह्मण २.३०)। जो अंश ब्रह्मौदन नहीं बन पाता वह पदार्थ से अलग होने के कारण प्रवर्ग्य कहलाता है- अथ यत्प्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः

(शतपथब्राह्मण १४.१.१.१०)। पदार्थ से छिटक कर अलग हो जाने वाला यह प्रवर्ग्य किसी अन्य पदार्थ का ब्रह्मौदन बन जाता है। यही वह सङ्गतिकरण है अर्थात् एक दूसरे से मिलना है जिसे यज्ञ कहा जाता है। प्रवर्ग्य के बिना कोई यज्ञ सम्भव नहीं है इसलिए प्रवर्ग्य को यज्ञ का सिर कहा जाता है- **शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्प्रवर्ग्यः**(गोपथब्राह्मण २.२.६)।

यज्ञ में होने वाली आदान प्रदान की क्रिया गति के बिना सम्भव नहीं है। और गति प्राण के बिना सम्भव नहीं है। देव प्राण है-**प्राणा देवाः**(शतपथ ७.५.१.२१)। गति दो भागों में बाँटी जा सकती है- एक केन्द्र से परिधि की ओर; दूसरी परिधि से केन्द्र की ओर। केन्द्र से परिधि की ओर गति इन्द्र प्राण के कारण होती है। परिधि से केन्द्र की ओर गति विष्णुप्राण के कारण होती है। ये दोनों गतियाँ साथ-साथ चलती रहती हैं। मानों दोनों में होड़ लगी रहती है, किन्तु इन दोनों गतियों में से न कोई हारती है, न कोई जीतती है-

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्।।

(ऋग्वेद ६.६९.८)

इन्द्र बहिर्गति करता है। यह विकास है। यही अग्नि का जनक है। विष्णु अन्तर्गति करता है। यह सङ्कोच है। यह सोम का जनक है। बहिर्गति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर अन्तर्गति में परिणत हो जाती है। परिणामस्वरूप अग्नि सोम में और सोम अग्नि में बदल जाता है। जो अन्न हम खाते हैं वह शरीर में जीवन की ऊष्मा बनाये रखता है। यह सोम का अग्नि में परिणत होने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि अग्नि को भोक्ता और सोम को भोग्य मानें तो भी यह स्पष्ट है कि हिरण तृण खाते समय भोक्ता है, किन्तु वही हिरण सिंह द्वारा खाये जाने पर भोग्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि भोक्तृभोग्यभाव सापेक्ष है और यह सापेक्षता ही पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र है। बाल्यावस्था में जो पुत्र पिता पर आश्रित होता है, युवावस्था में वही पुत्र पिता का आश्रय बन जाता है। कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। न कोई छोटा, न कोई बड़ा।

यज्ञ का आधार

वेद का सिद्धान्त है कि जो देवताओं ने किया वही हम भी करें- **यद्देवा अकुर्वन्स्तत्करवाणि**। यज्ञ विज्ञान के आधार का भी यही सिद्धान्त है कि जैसा सृष्टि में चल रहा है उसी आधार पर वेद में यज्ञों का विधान है। प्रकृति पदार्थ में प्रतिक्षण यज्ञ चल रहा है। वस्तुतः कर्ममात्र यज्ञ है। और यह कर्म प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण हो रहा है-**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत**। आज विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है

कि किसी परमाणु में भी कोई इलेक्ट्रॉन या प्रोटोन बिना गति के नहीं है। यदि गति न हो तो पदार्थ ही नष्ट हो जायें। क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार समस्त विश्व क्वाण्टम अर्थात् ऊर्जा समूह से बना है। यह ऊर्जा समूह कभी स्थिर नहीं रहता। पदार्थों का नानात्व कर्म की विविधता के कारण ही है। इनमें जो अस्तित्व है वह प्रतिष्ठा है। उसे ही रस या ब्रह्म कहते हैं। उस अस्तित्व में जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय हो रहा है वही कर्म है। कर्म ही यज्ञ है। **पाङ्क्तो वै यज्ञः** (शतपथ ब्राह्मण १.१.२.१६) के नियमानुसार यज्ञ के पाँच भीद हैं— आदान, अर्पण, उत्सर्ग, भैषज्य और विकास।

आदानयज्ञ

जीवात्मा अपनी रक्षा के लिये जो दूसरी जीवात्मा से ग्रहण करता है वह आदान है। यह क्रिया केवल चेतन पदार्थों में ही नहीं, जड पदार्थों में भी हो रही है। वनस्पति तो खाद और पानी के अभाव में मुरझा ही जाती है। सामान्यतः जड समझे जाने वाले पदार्थ भी यदि उन्हें हवा और धूप न मिले तो जीर्ण होने लगते हैं। इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे जड पदार्थ भी हवा और धूप में अन्न का ग्रहण करते हैं और उसी से अपनी सत्ता को सुरक्षित रख पाते हैं। जो धन-वैभव और सम्पत्ति हमें मिलती है वह भी हमारी आत्मा को पुष्ट बनाती है। यह सब आदानयज्ञ का हिस्सा है।

अर्पण यज्ञ

जो कुछ हम दूसरे जीवात्मा को देते हैं, वह अर्पणयज्ञ है। जिस पदार्थ को हम दूसरे को दे देते हैं उस पर से अपना स्वत्व हटा लेते हैं और दूसरे का स्वत्व स्थापित कर देते हैं। जब हम अपना सर्वस्व दूसरे को अर्पित करते हैं तो उसे शरणागति कहते हैं। गीता में कहा है—

यत्करोषि यदश्रासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९.२७)

उत्सर्ग यज्ञ

अर्पण के समान उत्सर्ग में भी त्याग होता है, किन्तु अर्पण में त्याग स्वेच्छा से किया जाता है, उत्सर्ग पराधीन है। जैसे मल मूत्र का त्याग। उत्सर्ग की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें जो पदार्थ छोड़ा जाता है वह किसी को दिया नहीं जाता, केवल उसका त्याग कर दिया जाता है। उत्सर्ग में ऐसे भी कार्य सम्मिलित किये जाते हैं जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये न होकर सबके लिये होते हैं। उदाहरणतः कुएँ, तालाब बनवाना, धर्मशाला बनवाना, चिकित्सालय बनवाना आदि। जिस पदार्थ का अर्पण किया जाता है

उसका भोग अर्पण करने वाला स्वयं नहीं कर सकता है। किन्तु उत्सर्ग के पदार्थ सार्वजनिक होते हैं; उनका उपयोग हम स्वयं भी कर सकते हैं। जैसे मेरे द्वारा बनवायी धर्मशाला में मैं स्वयं भी ठहर सकता हूँ। इस प्रकार के कार्यों से विश्व समृद्ध होता है। नये आविष्कारों से भी विश्व की समृद्धि करना अथवा नये ग्रन्थ निर्माण से विश्व की ज्ञान वृद्धि करना उत्सर्गयज्ञ में ही आते हैं। स्त्री और पुरुष अपने शुक्र और शोणित का उत्सर्ग करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा विश्व को समृद्ध बनाते हैं। यह भी उत्सर्ग यज्ञ का ही हिस्सा है।

भैषज्य यज्ञ

अन्न का आदान मुख्यतः भैषज्य यज्ञ है, किन्तु अन्न केवल मूख से भोजन करना ही नहीं है; हम अनेक प्रकार के अन्न ग्रहण करते हैं। जब हम थके होते हैं और थकान मिटाने के लिये थोड़ी देर बैठ जाते हैं। तो विश्राम कर लेने मात्र से हमारी थकान दूर हो जाती है क्योंकि हमारे चारों ओर फैले हुए प्राण मण्डल से हम प्राण ग्रहण कर लेते हैं। यह भैषज्य यज्ञ है, क्योंकि इससे हमारी थकावट की चिकित्सा हो जाती है। इस प्रक्रिया को भी यज्ञ कहा जाता है- **अन्नोर्कप्राणनामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः।**

विकास यज्ञ

किसी पिण्ड का महिमामण्डल निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसे विकास यज्ञ कहते हैं। उदाहरणतः पृथिवी का महिमामण्डल, जो रथन्तर साम कहलाता है, वह पृथिवी का विकास यज्ञ है और सूर्य का महिमा मण्डल जो बृहत्साम कहलाता है उसका विकास यज्ञ है। इसी प्रकार बीज का अङ्कुर बनते हुए फूल फल की स्थिति में आना उसका विकासयज्ञ है। यह विकास महिमामण्डल तक होता है। पृथिवी के महिमामण्डल के तीन पृष्ठ हैं- रोदसी, क्रन्दसी और संयती। यही बात प्रत्येक पिण्ड के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस महिमामण्डल के अन्तिम छोर तक पहुँच जाना ही स्वर्ग है।

इन पाँचों यज्ञों में आदानयज्ञ से अर्पण यज्ञ और अर्पणयज्ञ से भी उत्सर्ग यज्ञ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि अर्पण यज्ञ में एक व्यक्ति का ही भला होता है, उत्सर्ग में सबका भला होता है। आदान यज्ञ अथवा भैषज्य यज्ञ में हम जो कुछ भी विश्व से लेते हैं, वह हम पर ऋण है और उस ऋण को चुकाने के लिये ही ब्रह्मयज्ञ, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ नामक पञ्च महायज्ञ शास्त्र में विहित हैं।

देव समष्टि से पदार्थ का निर्माण होता है। देव ऊर्जा है और ऊर्जा कर्म से पुष्ट होती है इसलिये यज्ञ देवताओं का अन्न कहा जाता है- **यज्ञो हि देवानामन्नम्।** इसलिये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**

विकास का अर्थ

उपर्युक्त पाँचों यज्ञों की अवधारणा से विकास की वैदिक अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तथ्य तो यह है कि विकास के लिये जितना आवश्यक ग्रहण करना है उतना ही आवश्यक देना भी है। इसी दृष्टि से तप और दान की महिमा है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक विकास एक सीमा में ही होता है। जहाँ तक किसी पदार्थ या व्यक्ति का प्रभाव क्षेत्र ही नहीं है, वहाँ उसका विकास नहीं हो सकता। अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तिम छोर तक पहुँच जाना ही स्वर्ग है। अभ्युदय की यही चरम सीमा है।

मनुष्य: यज्ञ के नियमों का अतिक्रान्ता

अग्नि में सामे की आहुति का नियम सार्वभौम है। सभी अन्न अन्नादभाव से बँधे हुए हैं। अन्न-अन्नादभाव एक यज्ञ है। उसके नियम हैं। उन नियमों का उल्लङ्घन होने पर यज्ञ दूषित होता है, प्रकृति का ऋजु मार्ग अवरुद्ध होता है। इस प्राकृतिक यज्ञ की व्यवस्था दूषित करने में मनुष्य अग्रणी है। इस बात को एक कथा द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। प्रजापति से असुर, देवता, पितर, मनुष्य और पशु अपनी आजीविका के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर गये। प्रजापति ने देवताओं से कहा कि स्वाहापूर्वक दिया हुआ यज्ञ का अन्न तथा सूर्य का प्रकाश तुम्हारा अन्न होगा, जिसे वर्ष में एक बार उत्तरायण में तुम लोगे। पितरों से कहा कि स्वधापूर्वक दिया गया भोजन तुम्हारा अन्न होगा। जिसे तुम महिने में एक बार लोगे। चन्द्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा मनुष्यों से कहा कि तुम्हारा अन्न नमः होगा जिसे तुम सांय प्रातः दो समय करोगे; अग्नि तुम्हारा प्रकाश होगा। पशुओं से कहा कि तुम्हारा प्रकाश मनुष्य होंगे; तुम्हें जब जो मिल जाये वही तुम्हारा भोजन है। असुरों से कहा कि छल, माया आदि तुम्हारे अन्न हैं; अज्ञान ही तुम्हारे लिये प्रकाश है।

प्रजापति ने जो आज्ञा जिसको दी, वे सभी उसका पालन करते हैं। केवल एक मनुष्य ही उसका अतिक्रमण करता है। इसी कारण मनुष्य को अनुशासित करने के लिये शास्त्र की आवश्यकता है, किसी और के लिये नहीं।

प्रकृति में चलने वाले यज्ञ में देव, पितर, पशु, असुर, सभी अपना-अपना योगदान यथावत् देते हैं किन्तु एक मनुष्य ही ऐसा है जो प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण करता है। मनुष्य में प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य का यदि सदुपयोग किया जाये तो मनुष्य प्रकृति से ऊपर उठ सकता है। यही अमृतत्व की प्राप्ति का मार्ग है। अतः महाभारत का कथन है कि श्रेष्ठ मनुष्य ही है- **गुह्यं तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**। मनुष्य में समस्त देवताओं का निवास है- **नरो वै दैवानां ग्रामः**(ताण्ड्यब्राह्मण ६.९.२) मनुष्य समस्त सृष्टि में प्रजापति के सबसे निकट है- **पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**(शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।३) मनुष्य मनु रूप है- **अहं मनुरभवम्**। प्रजापति ने मनुष्य को मन से बनाया है, इसलिए मनुष्य में सदा मनु रहता है। उसी मनु के कारण मनुष्य को मनुष्य कहते हैं- **स**

(प्रजापतिः) देवान् सृष्ट्वा मनस्यतेव, तेन मनुष्यानसृजत । तनमुष्याणां मनुष्यत्वम् । स यस्तन् मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद । मनस्वान् ह भवति (मैत्रायणी संहिता ४।२।१)

त्रयीविद्या और सृष्टि विद्या: त्रयी से सृष्टि

पदार्थ, ऊर्जा और चेतना की त्रयी का वद में वाक्, प्राण और मन नाम है। इस त्रयी में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है- **त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि-** (शतपथब्राह्मण, १०.४.२.२) वाक्, प्राण और मन ही आत्मा है-- **स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः** - (शतपथब्राह्मण १४.४३.१०) मन की इच्छा और प्राण की क्रिया पदार्थ को जन्म दे देते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में आकाश प्रथम है और आकाश का शब्द गुण है। इसलिए वाक् पञ्चमहाभूतों को उपलक्षित करती है। वाक् ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है- **वागेवर्गेदो मनो यजुवदः प्राणः सामवेदः** - (बृहदारण्यकोपनिषद्, १.५.५) इसलिए वाक्, प्राण, मन की त्रयी वेदत्रयी है। मन की इच्छा, प्राण की क्रिया और वाक् से उपलक्षित पदार्थ ही सृष्टि विद्या के मूल है। इसलिए इन तीनों को प्रजापति कह दिया गया है-**मनो हि प्रजापतिः-** (सामविधानब्राह्मण, १.१.१), **प्रजापतिः प्राणः-** (शतपथब्राह्मण, ७.५.१.२१), **प्रजापतिर्वाक् -** (तैत्तिरीयब्राह्मण, १.३.४.५)

थोड़ा विस्तार में जायें तो त्रयी का रूप निम्न बनता है-

	ऋक्	यजुः	साम
देवता	अग्नि	वायु	आदित्य
लोक	भूः	भुवः	स्वः
छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
आत्मा	वाक्	मन	प्राण
पिण्ड	अर्थ	क्रिया	ज्ञान
अग्नि	गार्हपत्याग्नि	दक्षिणाग्नि	आहवनीयाग्नि
त्रिदेव	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र

यहाँ दी गयी सारी शब्दावलि वैदिक साहित्य में बिखरी पड़ी है। ये सारे शब्द पारिभाषिक हं।

ज्ञान तथा कर्म: मन तथा प्राण

सृष्टि का प्रारम्भ मन से होता है। मन की इच्छा ही प्राणों को प्रेरित करती है- **मनोऽनुसरन्ति मनो वाऽनुप्राणाः** - (जैमिनीयब्राह्मण, १.१६), **मनो वै प्राणानामधिपतिः** - (शतपथब्राह्मण, १४.३.२.३) मन की कोई सीमा नहीं, पदार्थ की सीमा है- **अपरिमिततरं हि मनः परिमिततरेव हि वाक्** - (शतपथब्राह्मण, १.४.४.७) अपरिमित मन को परिमित वाक् से जोड़ने वाला प्राण है- **वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः**

संहिता - (ऐतरेयारण्यकम्, ३.१.१) वर्तमान की भाषा में कहें तो ज्ञान कर्म के द्वारा ही सार्थक बनता है अन्यथा वह केवल बुद्धि-विलास बनकर रह जाता है। कर्म तो ज्ञान के बिना अन्धा है ही। वाक् अर्थात् पदार्थ, मन अर्थात् ज्ञान एवं प्राण अर्थात् कर्म के समन्वय से उत्पन्न होता है।

मन, प्राण तथा वाक् का महत्त्व

अव्ययपुरुष की पाँच कलाओं में मन, प्राण और वाक् का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये तीनों ही सृष्टि के कारण हैं। इसलिये इन तीनों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा करना उपयोगी होगा।

मन, प्राण तथा वाक् के छः अधिकार

मन, प्राण और वाक् से क्रमशः ज्ञान, क्रिया और अर्थ उत्पन्न होते हैं। ये तीनों ही संसार के पदार्थों को बनाते हैं। ये नाम, रूप और कर्म के रूप में सर्वव्यापक हैं। इन तीनों का प्रथम अधिकार अन्न, अन्नाद और आवपन है। अन्न भोग्य है, अन्नाद भोक्ता है और आवपन भोग का स्थल है। दूसरा अधिकार अभिमानी, अधिष्ठाता और अधिष्ठान है। उदाहरणतः गङ्गा में जल अधिष्ठान है, प्रवाह अधिष्ठाता है और गङ्गा उसका अभिमानी देवता है। तीसरा अधिकार ब्रह्म है। वाक् का ब्रह्म प्राण है, प्राण का ब्रह्म मन है। चौथा आधार दिव्य है- मन ब्रह्म है, प्राण क्षत्र है, विट् वाक् है। पाँचवाँ अधिकार है- अग्नि, सोम और आपः। मन से सोम, प्राण से अग्नि और वाक् से आपः की उत्पत्ति होती है। सोमरस से चन्द्रमा की, अग्नि से सूर्य की और आपः से पत्येक पिण्ड की रचना हुई। छठा अधिकार काम, तप और श्रम है। मन की वृत्ति काम, प्राण की वृत्ति क्रिया, और वाक् की वृत्ति श्रम है। प्राण के अन्तर्व्यापार को तप कहते हैं। उससे जो बाह्यक्रिया होती है, वह श्रम कहलाती है। काम, तप और श्रम सभी पदार्थों में रहते हैं। इनके बिना कोई पदार्थ नहीं बन सकता है।

मन, प्राण तथा वाक् का अन्तःसम्बन्ध

ज्ञान, क्रिया और अर्थ में से ज्ञान और क्रिया अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्नता केवल अर्थ में रहती है। मन और प्राण के योग से ही वाक् सफल होती है। जिस वाक् में मनोयोग नहीं है और प्राणवत्ता नहीं है, उसमें किसी की भी श्रद्धा नहीं रहती। ज्ञान के बिना क्रिया निरर्थक है। मन में जो अन्तर्जल्प चलता है, वह वाक् का भाग है। इस प्रकार इन तीनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

मन से वेद, प्राण से यज्ञ और वाक् से प्रज्ञा उत्पन्न होती है। प्राण और वाक् मिलकर मन की सहायता करते हैं तो वेदसृष्टि होती है, मन और वाक् मिलकर प्राण की सहायता करते हैं तो यज्ञ की सृष्टि होती है, प्राण और मन मिलकर वाक् को सञ्चालित करते हैं तो लोक की सृष्टि होती है।

वेद और दर्शनशास्त्र

मन का सम्बन्ध मन्त्रों से तथा प्राण का सम्बन्ध देवों से है। मन्त्र और देवों से ही यज्ञ होता है और यज्ञ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अग्नि, वायु और आदित्य सांख्यदर्शन के तमस्, रजस् और सत्त्वगुण के समकक्ष है। इन तीन गुणों को ही सांख्य ने प्रकृति बताया है तथा प्रकृति से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तार प्रदर्शित किया है। पुराणों में अपेक्षा भेद से ऋक् को रजस्, यजु को सत्त्व तथा साम को तमोगुण भी बताया है-

ऋचो रजोगुणः सत्त्वं यजुषा च गुणो मुने ।

तमोगुणानि सामानि तमः सत्त्वमथर्वसु ॥ मार्कण्डेयपुराण

दूसरी ओर वेदान्त अग्नि, वायु तथा आदित्य को ही व्यष्टि तथा समष्टि में इस प्रकार दिखाता है-

देव	व्यष्टि	समष्टि
अग्नि	वैश्वानर	विराट्
वायु	तैजस	हिरण्यगर्भ
आदित्य	प्राज्ञ	ईश्वर

त्रिवृत्करण यज्ञ से सृष्टि की स्थिति

वस्तुस्थिति यह है कि यज्ञ का स्वरूप इतना व्यापक है कि इससे बहिर्भूत कुछ भी नहीं है। अग्नि, वायु और आदित्य की भी परस्पर एक दूसरे में आहुति होती रहती है। इसलिए इन तीनों में ये तीनों रहते हैं। इन तीनों के ही इस मिश्रण से हमारा वैश्वानर, तैजस, और प्राज्ञरूप बनता है। वैश्वानर अर्थ का निर्माण करता है, तैजस् उस अर्थ में क्रिया उत्पन्न करता है और प्राज्ञ ज्ञान। इन्हीं तीन का समष्टि रूप विराट्, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ है। यदि इन तीनों की परस्पर एक दूसरे में आहुति न डालें तो अर्थ, क्रिया और ज्ञान का परस्पर समन्वय ही न हो और अर्थ, क्रिया और ज्ञान परस्पर पृथक्-पृथक् रह जायें; वे एक दूसरे से जुड़ ही न पायें अभिप्राय यह है कि यज्ञ के बिना सृष्टि का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है।

यज्ञ एवं कर्मयोग

यज्ञ की व्यापक दृष्टि ही गीता के कर्मयोग का आधार बनी। गीता ने स्पष्ट घोषणा की कि यज्ञ के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन के लिये कर्म किया जाये तो वह बन्धन का कारण है, किन्तु यज्ञ के लिये किया जाने वाला कर्म बन्धन का कारण नहीं है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष प्रजापति की प्रतिमा है। स्वयं प्रजापति का आधा भाग मर्त्य है आधा अमृत। ऐसी स्थिति में मनुष्य का भी कल्याण इसी में है कि वह ज्ञान और कर्म दोनों की उपासना करे-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतश्रुते ।

इसीलिये यजुर्वेद का आदेश यह भी है कि मनुष्य शतवर्ष की पूर्ण आयु कर्म करते हुए ही व्यतीत करे-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

यह भी स्पष्ट है कि कामना के बिना कर्म सम्भव नहीं और कर्म के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में विवेक से काम लेना होगा। एक कामनायें वे हैं, जो हमारी सहज इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं। दूसरी कामनायें वे हैं जिन्हें हमारी लोलुपता ने जन्म दिया है। जो कामनायें सहज हैं उनकी पूर्ति के लिये कर्म करना आत्मोपलब्धि में साधक है। अतः ऐसी कामनायें उपादेय हैं। जो कामनायें हमारे मन की लोलुपता से उत्पन्न हुई हैं, वे आत्मोपलब्धि में बाधक हैं। सहज और कृत्रिम कामनाओं के बीच भेद करना ही कर्मयोग का आधार है। सहज ईश्वरेच्छा है। कृत्रिम इच्छा जीवेच्छा है। सहज इच्छा में बुद्धि का नियन्त्रण है। कृत्रिम इच्छा में स्वच्छन्दाचार है। सहज इच्छा से सञ्चालित आहार और विहार को ही गीता में “युक्ताहारविहार” कहा गया है।

कामनाओं का यह प्रवाह गृहस्थाश्रम में सबसे अधिक बलवान् होता है। वहीं यदि हम कामनाओं को नियन्त्रित कर पाते हैं तो हमारा समस्त जीवन प्रशस्त हो जाता है। अन्यथा “पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्” की अनादि कथा चलती रहती है इसलिये गृहस्थाश्रम को मनु ने ज्येष्ठाश्रम कहा है-

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु, स्मृति ३.७८)

गृहस्थ की धुरी पति और पत्नी दोनों पहियों पर टिकी है। पति और पत्नी के बीच आदान-प्रदान का भाव यज्ञ है। पत्नी तभी पत्नी कहलाती है जब वह इस यज्ञ में भागीदार बने। पाणिनि का सूत्र है- **पत्युर्नो यज्ञसंयोग**। प्रकृति ने पुरुष को अधूरा बनाया, इसलिये उसे रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये पत्नी की आवश्यकता है-**सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यत**। कैसे पत्नी और पति एक-दूसरे के पूरक बनते हैं इसका उत्तर मन की प्रकृति है। मन का निर्माण सौम्य चन्द्रमा से हुआ। इसलिये सहज ही उसमें रसभाव है। यह रस भाव ही बराबर वालों के प्रति स्नेह कहलाता है। जड़ के प्रति यही भाव काम कहलाता है। छोटों के प्रति यही भाव वात्सल्य तथा बड़ों के प्रति यही भाव श्रद्धा कहलाता है। जब ये चारों भाव एक साथ किसी के प्रति हों तो वह रति है। यह रति पूर्णता की सूचक है। पूर्णता आत्मा में है, इसलिये एक रति आत्मारति

है, जिसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में हैं- आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स विराट् भवति। दूसरी ओर स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर परिपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि आधा भाग स्त्री है आधा भाग पुरुष। दोनों का मिलन ही परिपूर्णता है-

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः।।(मनुस्मृति १।३२)

यही परिपूर्णता दाम्पत्य रति है। स्त्री और पुरुष का यह यज्ञ उस विराट् यज्ञ का भाग है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

सकाम कर्म

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यज्ञ अर्थात् कर्मयोग से हमारे मन की कामनायें पूरी होती हैं। प्रश्न होता है कि कामना की तो शास्त्रों में निन्दा है। फिर कामना की पूर्ति के साधक यज्ञ को श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में मनु का कहना है कि कामात्मता प्रशस्त नहीं है, किन्तु संसार में अकामता भी देखने में नहीं आती अतः हमें अपनी कामनाओं को एक दिशा देनी होती है और वह दिशा यह है कि हम वेदज्ञान और वेद में प्रतिपादित कर्मयोग की कामना करें-

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।।(मनुस्मृति २.२)

वेदाधिगम का सम्बन्ध ज्ञानशक्ति से है। वैदिक कर्मयोग का सम्बन्ध क्रियाशक्ति से है। वेदज्ञान के बिना वैदिक कर्मयोग का भी पालन नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म को ज्ञान ही दिशा देता है। इस दृष्टि से वेद को सब धर्मों का मूल कहा गया है- वेदोऽखिलो धर्ममूलम्(मनुस्मृति २-६)। वैदिक कर्मयोग ही धर्म है और उसका का अर्थ कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य-बोध

कर्त्तव्य बोध का प्रश्न केवल मनुष्य के लिए है। मनुष्य के सम्बन्ध में एक विशेषता की हमने पहले चर्चा की है। प्रकृति की दृष्टि से देव अपनी ऋद्धि-सिद्धि के कारण मनुष्य से आगे हैं, किन्तु गुणातीत पुरुष की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसके केन्द्र में आत्मा है और इसलिए जो प्रकृति से ऊपर उठ सकता है, वह सामर्थ्य देवों में भी नहीं है, पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या है? इसी दृष्टि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है- नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

समष्टि में जो सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ और विराट् है व्यष्टि में वही प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर है। व्यष्टि पुरुष है, समष्टि प्रजापति है। इन दोनों की समानता के कारण ही पुरुष को प्रजापति के निकटतम बताया गया है- **पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**। वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष को प्रजापति के समान तो है ही उसमें कुछ ऐसी विशेषता भी है, जो ईश्वर में भी नहीं है। पुरुष में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश हैं। वह कर्मफल भोगता है, उसमें अच्छे-बुरे संस्कार हैं। ईश्वर में न क्लेश हैं, न संस्कार। इसलिए ईश्वर में नैतिकता के लिए कोई अवकाश नहीं है। वहाँ कोई अन्तर्द्वन्द्व ही नहीं है जो नैतिकता की मूलभूत अपेक्षा है। पशु-पक्षी और देव-असुरों में क्लेश, कर्मफल और संस्कार हैं, किन्तु उनमें बुद्धि का वह सात्विक स्वरूप नहीं है, जिसे ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म कहा जाता है। ये चार केवल मनुष्य में ही सम्भव हैं। इसलिए मनुष्य में ही ज्ञान का अविद्या से, ऐश्वर्य का अस्मिता से, राग-द्वेष का वैराग्य से तथा धर्म का अभिनिवेश से संघर्ष होता है। इस संघर्ष में ही कर्तव्य मीमांसा का प्रश्न उत्पन्न होता है। ज्ञान अविद्या को दूर करता है या अविद्या ज्ञान को अभिभूत कर लेती है-- यह विकल्प केवल मनुष्य को उपलब्ध है। पशु और देवों में जितनी अविद्या जिस रूप में है उसी रूप में रहती है। इसलिए वे जो कुछ करते हैं उससे अन्यथा नहीं कर सकते। उनके जीवन का मार्ग बँधा-बँधया है। मनुष्य बँधे-बँधाये मार्ग से हटकर चल सकता है। इसलिए उसके जीवन में जो महती सम्भावना है वह देवयोनि में भी नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस तथ्य को इस रूप में किया है कि प्रजापति के आदेश का उल्लंघन न देव करते हैं, न पितर, न पशु, न असुर। केवल मनुष्य ही प्रजापति के भी आदेश का अतिक्रमण कर सकता है। इसका अभिप्राय यही है कि शेष सब योनियों के लिए एक बँधा-बँधायी मार्ग नहीं है, जो प्रकृति ने उनके लिए निर्धारित कर दिया, किन्तु मनुष्य के लिए कोई एक बँधा-बँधायी मार्ग है, जो प्रकृति ने उनके लिए निर्धारित कर दिया हो। मनुष्य के लिए कोई एक बँधा-बँधायी मार्ग निर्धारित इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह अन्तर्द्वन्द्व में जीता है।

यह अन्तर्द्वन्द्व नैतिक है। ज्ञान से अविद्या का संघर्ष है। ऐश्वर्य से अस्मिता का संघर्ष है, क्योंकि ऐश्वर्य आत्मविकास है और अस्मिता संकोच है। विकास स्मित है, अस्मिता स्मित का अभाव है। अस्मिता के कारण मनुष्य अपने को अपूर्ण मानता है। ऐश्वर्य भूमा का भाव है। तीसरा संघर्ष राग-द्वेष से वैराग्य का है। चौथा संघर्ष अभिनिवेश से धर्म का है। यह चतुर्विध संघर्ष ही मनुष्य जीवन की कहानी है।

सृष्टि

तर्क का विषय प्रकृति

सृष्टि या प्रकृति ही तर्क-वितर्क विश्लेषण अथवा विचार-विमर्श का विषय बन सकती है, जो प्रकृति से भी परे है, वह तर्क-वितर्क का विषय नहीं बन सकता। अतः ऐसे अचिन्त्य भाव को तर्क द्वारा जानने का प्रयत्न व्यर्थ है-

अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण चिन्तयेत्।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।

सांख्य दर्शन की भाषा में कहें तो प्रकृति में ही कार्यकारणभाव है, पुरुष में नहीं। मूलप्रकृति कारण है, कार्य नहीं। मूलप्रकृति यद्यपि किसी का कार्य नहीं है किन्तु बुद्धि का कारण है। बुद्धि अहङ्कार का कारण है। इसलिए मूलप्रकृति प्रकृति है; बुद्धि तथा अहङ्कार प्रकृति-विकृति है, क्योंकि ये मूल प्रकृति के कार्य हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्रा तथा मन, इन १६ के कारण हैं। पञ्चभूत केवल पञ्चतन्मात्राओं के कार्य हैं, वे किसी के कारण नहीं है, अतः वे केवल विकृति हैं। सारांश यह है कि समस्त प्रकृति कार्य-कारण शृङ्खला में बन्धी हुई है, अतः वह तर्क का विषय है, क्योंकि समस्त तर्क कारण-कार्यसम्बन्ध पर टिके हैं। जो प्रकृति से परे है वह कारण-कार्यसम्बन्ध से भी परे है, इसीलिए वहाँ तर्क की भी गति नहीं है। इसी स्थिति को अचिन्त्य कहा गया है।

शब्द का विषय नामरूपात्मक जगत्

एक अन्य दृष्टि से इसी स्थिति को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। मन सीमित को ग्रहण कर सकता है, असीम को नहीं। जो सीमित है उसका रूप है, उसका नाम है। मन अथवा तर्क नाम तथा रूप के माध्यम से ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थ नाम और रूप वाले हैं। जब सृष्टि नहीं थी तो नाम और रूप भी नहीं थे। इसलिए सृष्टि के पहले की अवस्था में मन या तर्क की गति नहीं हो सकती।

जहाँ मन या तर्क की गति नहीं है, वहाँ शब्द भी कुण्ठित हो जाता है इसलिए केनोपनिषद् ने कहा है-

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोपनिषद् १.४)

निषेधात्मक भाषा में महाप्रलय की अवस्था का वर्णन

भाषा जब किसी स्थिति का वर्णन विधि-मुख से नहीं कर सकती तो निषेध-मुख पद्धति काम में लेती है। इसी पद्धति का सहारा लेकर ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि के पहले की स्थिति का वर्णन निषेध-मुख की भाषा में किया गया है। न उस समय असत् था, न सत् था, न रज था, न व्योम, न मृत्यु, न अमृत, न रात, न दिन। यह निषेध की भाषा सृष्टि के पहले की स्थिति को समझने में हमारी अशक्यता को द्योतित करती है। इसी नासदीय सूक्त के अन्त में इस स्थिति को समझने में सृष्टि के अध्यक्ष की अक्षमता बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि जो इस सृष्टि का परम व्योम में स्थित अध्यक्ष है वह भी सृष्टि के पहले की स्थिति को न जान पाएगा-

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद

(ऋग्वेद १०.१२९.७)

वस्तुतः सृष्टि के अध्यक्ष को भी सृष्टि बनाने के बाद ही सृष्टि का अध्यक्ष कहा जा सकता है। सृष्टि के पहले की स्थिति को वह भी नहीं जान सकता। ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। यह त्रिपुटी भी सृष्टि का ही भाग है। जब सृष्टि नहीं है तो यह त्रिपुटी भी नहीं है।

विधि की भाषा में सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन

निषेधपरक इस वर्णन से भ्रम हो सकता है कि सृष्टि के पूर्व कुछ था ही नहीं, किन्तु यदि ऐसा मान लें तो इसका यह अर्थ होगा कि सृष्टि शून्य में से उत्पन्न हो गई, किन्तु विज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। गीता कहती है असत् से कोई भाव पैदा नहीं होता- नासतो विद्यते भावः (गीता २.१६)। इसलिए सबका निषेध कर देने के बाद नासदीय सूक्त कहता है-

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्वा न्यन्न परः किञ्चनास ।

(ऋग्वेद १०.१२९.२)

इस पङ्क्ति में सृष्टि के पहले की स्थिति को आनीत् क्रिया के द्वारा प्रकट किया गया है। 'आनीत्' का अर्थ वही है जो अर्थ प्राण का है, किन्तु दोनों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्राण में 'प्र' उपसर्ग है, आनीत् में उपसर्ग नहीं है। 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्टता। जो प्रकृष्ट होता है वह अभिव्यक्त होता है। यदि ऋषि 'प्राणीत्' कहता तो वह प्राण की व्यक्त अवस्था को बताता, 'आनीत्' कहने से उस शक्ति की अव्यक्तता का बोध होता है। शक्ति की उसी अव्यक्त अवस्था को यहाँ 'स्वधा' कहा गया है। स्वधा का अर्थ है- स्वयं की शक्ति। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। वे दो नहीं हैं। इसलिए यहाँ 'एकम्' का प्रयोग है। यद्यपि वह 'एक' 'स्वधा सहित' है, तथापि उसके एकत्व में कोई अन्तर नहीं आता। हम ऊपर कह चुके हैं कि उस स्थिति में रूप नहीं था। उसके लिए 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः पहली बार संज्ञा का प्रयोग करके फिर उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ संज्ञा का प्रयोग किए बिना ही सर्वनाम का प्रयोग कर दिया गया है क्योंकि यह हमारी विवशता है कि संज्ञा का प्रयोग यहाँ हो नहीं सकता। यद्यपि उपसर्ग के बिना 'आनीत्' धातु के प्रयोग से ही उस समय शक्ति की अव्यक्तता द्योतित हो जाती है, तथापि 'अवातम्' कहकर ऋषि ने स्पष्ट रूप में उस समय क्रिया का भी निषेध कर दिया। स्वधा सहित उस एक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, यह कहने के लिए 'तस्माद्वा न परं किञ्चनास' यह कहा गया है। यहाँ भी 'तस्मात्' में एकवचन का प्रयोग इस बात का सूचक है कि ऋषि उस एक अनाम तत्त्व के साथ स्वधा की शक्ति मानकर भी दो की सत्ता को नहीं मान रहा। इसलिए सायणाचार्य ने नासदीय सूक्त पर भाष्य लिखते हुए कहा कि वह ब्रह्म अपनी शक्ति से उस समय विभक्त नहीं हुआ था, अविभक्त ही था- **तया तद् ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्**। यदि ब्रह्म में शक्ति हागी ही नहीं तो कभी भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकेगा किन्तु यदि ऐसा मान लें कि ब्रह्म में उस समय शक्ति उद्बुद्ध अवस्था में थी तो फिर वह सृष्टि का अवस्था ही हो जाएगी, सृष्टि के पहले की अवस्था न कहलाएगी। अतः यह मानना होगा कि उस समय शक्ति तो थी, किन्तु वह अपनी सुषुप्तावस्था में शक्तिमान् के साथ अविभक्त रूप में अथवा अनुद्बुद्ध रूप में थी।

सृष्टि से पूर्व की अवस्था

वैदिक साहित्य में सृष्टि के उद्भव पर विचार करते हुए यह भी विचार किया गया है कि सृष्टि के उद्भव के पूर्व की स्थिति कैसी थी? वस्तुस्थिति यह है कि हमारा मन सृष्टि का एक भाग है और वह केवल सृष्टि की ही विविध अवस्थाओं की कल्पना कर सकता है। सृष्टि के पूर्व की अवस्था की कल्पना मन नहीं कर सकता। यह मन की सीमा है। केनोपनिषद् कहता है कि जगत् का मूल कारण- जो

कि कारण होने के कारण कार्य से पूर्व भी होना चाहिए- ब्रह्म है और यह ब्रह्म मन का भी कारण है। मन इसी ब्रह्म से उद्भव हुआ है, किन्तु मन अपने कारण, ब्रह्म, पर मनन नहीं कर सकता-

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोपनिषद् १.६)

प्रकृति की साम्यावस्था

साङ्ख्य दर्शन सृष्टि के पहले यह मानता है कि उस समय प्रकृति अपनी साम्यावस्था में थी। शतपथब्राह्मण में प्रकृति की साम्यावस्था को दूसरी भाषा में कहा गया है कि उस समय सभी देव एक जैसे थे- **सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः**। नासदीय सूक्त में इसी स्थिति का और अधिक विस्तार करते हुए कहा गया है कि उस समय अन्धकार से आवृत्त अन्धकार था- 'तम आसीत्तमसा गूळमग्रे।' कोई पदार्थ अन्धेरे में दिखाई देता है तो उसे हम अन्धकार से आवृत्त कहते हैं किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में तो सभी कार्य अपने कारण में छिपे हुए थे। इस कारण वे अव्यक्त थे। इस प्रकार पदार्थों के दिखाई न देने का कारण दुहरा था- एक तो वे अपने कारण में छिपे थे, दूसरे उस समय प्रकाश का अभाव था। यही तम से तम का आवृत्त होना है। मनु ने इसी स्थिति का वर्णन इस रूप में किया है कि उस समय जो अन्धकार था उसमें न कुछ जाना जा सकता था, न उसका कोई चिन्ह था, न उसके बारे में विचार किया जा सकता है, न निर्देश; मानों सब कुछ सोया हुआ था-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुस्मृति १.५)

आभु और परात्पर

प्रलयावस्था में जो पदार्थ था उसे श्रुति 'आभु' कहती है, क्योंकि वह सब ओर था। उसकी सत्ता देशकालावच्छिन्न नहीं है; इसलिए उसे आभु कहा गया है। क्योंकि इस सृष्टि में जो कुछ सूक्ष्मतम है, वह आभु उससे भी परे था इसलिए उसे परात्पर भी कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में इस परात्पर स्थिति का

वर्णन इस रूप में किया गया है कि जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को छोड़कर लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से छूटकर दिव्य परात्परपुरुष को प्राप्त होता है-

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्डकोपनिषद्, ३.२.८)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी परात्पर स्थिति का वर्णन इस रूप में है कि न इससे कुछ पर है न अपर, न इसस कुछ छोटा है न बड़ा-

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, १०.१०.२०)

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि न उसका कार्य है न कारण, न कोई उसके समान है, न अधिक। उसकी शक्ति स्वाभाविक है-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समञ्जाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.८)

उपर्युक्त श्रुतियों के आधार पर परात्पर स्थिति के सम्बन्ध में तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं-

१. परात्पर में नाम-रूप नहीं है।
२. परात्पर देशकालाद्यनवच्छिन्न है।
३. परात्पर कार्यकारणभावातीत है।

इन तीन निषेधमुख वाक्यों से परात्पर को कहा जा सकता है। विधिमुख से भी परात्पर के सम्बन्ध में तीन वक्तव्य दिए जा सकते हैं-

१. **तद्**-वह नामरहित है अतः उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि उसमें सब नाम छिपे हुए हैं। सब नामरूपों का उद्भव उसी से होता है।
२. **एकम्**-वहाँ देश-काल अथवा कार्य-कारण किसी प्रकार का विभाजन नहीं है। अतः वह द्वैत से परे एक है।
३. **स्वधया**-वह शक्तिमान् शक्ति से युक्त है, किन्तु वह शक्ति अभी सुषुप्तावस्था में है इसलिए उसे 'प्र' उपसर्ग रहित 'आनीत्' क्रियापद से कहा जाता है। यह शक्ति अपना कार्य नहीं कर रही इसलिए वहाँ कोई क्रिया नहीं है। इस बात को 'अवातम्' विशेषण द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शब्दातीत उस परात्पर स्थिति का वर्णन श्रुति ने निषेध-मुख और विधिमुख दोनों प्रकार से किया है, तथापि वस्तुस्थिति यही है कि वह स्थिति शब्द और तर्क दोनों से परे है।

सृष्टि का आदिबिन्दु: स्रष्टा की सिसृक्षा

सृष्टि के पूर्व परात्पर की स्थिति में स्वधा अथवा शक्ति उद्बुद्ध नहीं थी इसलिए वह सर्जन रूप अपना कार्य करने में समर्थ होने पर भी उस कार्य को नहीं कर पा रही थी। सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु इसी अनुद्बुद्ध शक्ति का उद्बुद्ध हो जाना है।

शक्ति का जागरण

प्रश्न होता है कि अनुद्बुद्ध शक्ति उद्बुद्ध क्यों होती है? वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि और प्रलय का एक क्रम है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि, यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है, उसी प्रकार प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय होती है। गीता में सृष्टि को ब्रह्मा का दिन और प्रलय को ब्रह्मा की रात कहा है। दिन के आने पर अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हो जाता है और रात्रि के आने पर वह पुनः अव्यक्त में ही लीन हो जाता है-

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (गीता ८.१८)

कर्माध्यक्ष की सिसृक्षा

प्रश्न होता है कि प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय का यह क्रम क्यों और कब होता है? नासदीय सूक्त की व्याख्या करते समय सायणाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका कहना है कि जीवात्माओं के कर्म एक अवधि विशेष के बाद अपना फल देते हैं, तत्काल नहीं। सृष्टि के क्रम में एक ऐसा बिन्दु आता है जब किसी भी प्राणी के कर्म इस परिपक्व अवस्था में नहीं होते कि वे अपना फल दे सकें। ऐसी स्थिति में सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः प्रलय हो जाता है। एक विशेष अवधि के बाद प्राणियों के वे कर्म उस परिपक्व अवस्था में आ जाते हैं कि वे अपना फल दे सकें। क्योंकि ईश्वर कर्मों का अध्यक्ष है इसलिए ऐसी स्थिति आने पर उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने इच्छा हो जाती है और यह इच्छा ही सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है-

अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म भूष्णु वर्धिष्णवजायत

परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः । ततो हेतोः कर्माध्यक्षस्य

परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा अजायत । (सायणभाष्य, ऋग्वेद १०.१२९)

नासदीय सूक्त स्पष्ट कहता है कि सर्वप्रथम सृष्टि की कामना होती है- कामस्तदग्रे समवर्तताधि । नासदीय सूक्त ही यह भी बताता है कि यह काम मन का प्रथम बीज है- मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । मन और कामना का अविनाभावसम्बन्ध है। कामना उत्पन्न हुई तो मन उत्पन्न हो गया- यह सृष्टि का आदि बिन्दु है। परात्पर स्थिति का एकत्व मन के उत्पन्न होते ही द्वैत में बदल गया। द्वैत कभी देशकालानवच्छिन्न नहीं हो सकता, नाम- रूप रहित नहीं हो सकता, कार्यकारणभावात्तत् नहीं हो सकता। मन का उत्पन्न होना ही परात्पर से सृष्टि के उद्भव का प्रारम्भ बिन्दु है। कामना उत्पन्न होने के कारण हम बता ही चुके हैं कि इस सृष्टि के पूर्व सृष्टि के प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फलोन्मुख हो गए तो यह आवश्यक हो गया कि सृष्टि हो, क्योंकि सृष्टि के बिना प्राणी अपने कर्मों का फल नहीं भोग सकते।

आभु और अभ्व

अद्वैत-सिद्धान्त में जीवात्माओं के कर्मों का अपरिपक्व होना कहें या परमेश्वर की स्वधा शक्ति का अनुद्बुद्ध होना कहें, एक ही बात है। जैसे ही परमेश्वर के मन में सिसृक्षा उत्पन्न होती है। वैसे ही अपरिमित

परिमित हो जाता है, अव्यक्त व्यक्त हो जाता है, अनिरुक्त निरुक्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के ये ही दो रूप बताए हैं- निरुक्त और अनिरुक्त, परिमित और अपरिमित-

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च परिमितञ्चापरिमितञ्च ।

(शतपथब्राह्मण ६.५.३.७)

जब तक कामना नहीं है, तब तक वह अपरिमित है और इसलिए वह अनिरुक्त है। जैसे ही कामना होती है वह परिमित हो जाता है और निरुक्त हो जाता है। यह अव्यक्त के व्यक्त होने का रहस्य है, एक के अनेक होने का रहस्य है, सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य है। कारण रूप में वह एक है, कार्यरूप में वह अनेक है- **एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।**(ऋग्वेद८.५.८.२)। नासदीय सूक्त में 'आभु' शब्द आया है। आभु से ही जुड़ा हुआ दूसरा शब्द अभ्व है। यह अभ्व ही ब्रह्म की शक्ति का अभिव्यक्त रूप है जिसे नाम और रूप द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। शतपथब्राह्मण में ब्रह्म की इस अभ्वशक्ति का बहुत सजीव चित्रण किया गया है। ब्रह्म ने सोचा कि मैं इन लोकों में कैसे प्रकट होऊँ? तब वह नाम और रूप दो के द्वारा लोकों में प्रकट हुआ। जिस-जिस का नाम होता है उसे हम नाम से जान लेते हैं और जिसका नाम नहीं होता है उसे हम रूप द्वारा पहचानते हैं। ये दोनों ब्रह्म के बड़े अभ्व हैं, ये दोनों ब्रह्म के बड़े यक्ष हैं। मन से रूप को जाना जाता है, वाणी से नाम का ग्रहण होता है-

तत्परार्थं गत्वैक्षत कथं न्विमांल्लोकान्प्रत्यवेयामिति तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्यापि नाम नास्ति तद्वेद रूपेण- द्वे हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे। ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे- मनसा हि वेदेदं रूपमिति वाचा हि नाम गृह्णाति। (शतपथब्राह्मण ११.२.३.३-५)।

जिसे यहाँ यक्ष कहा गया है उसे ही यहाँ माया भी कहा गया है। इन्द्र द्वारा माया ही अनेक रूप धारण करती है- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** माया का अर्थ है परिमित बना देने वाली शक्ति। नाम और रूप ही पदार्थ का परिमित बनाते हैं। अपरिमित को परिमित बना देना एक आश्चर्य है। इसलिए इस शक्ति को यक्ष कहा गया है। स्वयं अभ्व शब्द को देखें तो इसका अर्थ होगा जो होकर भी नहीं है। आभु का होना स्थायी है, अभ्व का होना अस्थायी है। एक अमृतभाव है, दूसरा मृत्युभाव है दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं- **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्** (शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४)।

उल्लेखनीय है कि वेद में सृष्टिविषयक सूक्तों को भाववृत्त कहा जाता है, अर्थात् इन सूक्तों में आभु कैसे भावविकारों से युक्त हुआ- इसका वर्णन है। सृष्टि उत्पन्न नहीं हाती है, आभु भावविकारों से युक्त हो जाता है। उसे ही हम सृष्टि का उत्पन्न होना मान लेते हैं। यही अज का रजस् हो जाना है। अज अथवा आभु एक है, रजस् अथवा भावविकार छः हैं- अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति। ऋग्वेद कहता है- **अजस्य रूपे किमपि स्वदेकं षळिमा रजांसि**। ये छः भावविकार ही तो समस्त लोकों के मूल हैं। इसलिए लोकों को भी रजस् कहा जाता है- **लोका रजांस्युच्यन्ते**। ये षड्भावविकार एक क्षण में आते हैं दूसरे क्षण में चले जाते हैं। इसलिए न इन्हें सत् कह सकते हैं, न असत्। ये सदसद्विलक्षण है। सारे षड्भावविकार अस्तित्व पर टिके हैं। अस्तित्व ही उनका स्रष्टा है और अस्तित्व उन सबमें ओतप्रोत भी है। इसलिए स्रष्टा सृष्टि से पृथक् नहीं है। वह सृष्टि में अनुप्रविष्ट है- **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**(शतपथ ब्राह्मण ६.३.२.५)।

वस्तुतः परात्पर की स्थिति में अभी पुरुष का जन्म नहीं हुआ है। जिस पुरुष से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति पुरुष सूक्त में बताई गई है वह पुरुष कामना द्वारा परात्पर स्थिति में पुर् बनने पर ही अस्तित्व में आता है। कामना द्वारा जैसे ही परात्पर सीमित होता है वैसे ही उसकी एक सीमा रेखा बन जाती है। इस रेखा को ही पुर् कहा जाता है- **लेखा हि पुर्**:(शतपथब्राह्मण ६.३.३.२.५)। इस पुर् में आबद्ध स्रष्टा ही पुरुष कहलाता है क्योंकि पुर् का अर्थ है जो पुर् में शयन करता है- **पुर् शेते**। असीम का ससीम हो जाना ही मानो उसका शयन करना है। जब तक त्रिगुणातीत था तब तक वह पूर्ण जागरूक था। जब वह कामना से आक्रान्त हुआ तब वह गुणों से आवृत्त हो गया, मानो सो गया। पुरुष का यह सीमा में बँध जाना ही उसका यज्ञीय पशु भाव को प्राप्त हो जाना है- **अबध्नन् पुरुषं पशुम्**। यही पुरुष अपने को होम कर वह सर्वहुत यज्ञ करता है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।

देवों का यज्ञ

नासदीय सूक्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए- **अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन**। पुरुष सूक्त में इस बात का चार बार उल्लेख हुआ है कि जिस यज्ञ से जो सृष्टि उत्पन्न हुई उस सृष्टि का सम्पादन देवताओं ने किया। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सर्जन की प्रक्रिया में देवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि जिस यज्ञ से यह सृष्टि उद्भूत हुई उस यज्ञ का सम्पादन देवों ने किया। ब्राह्मणग्रन्थ निरन्तर इस बात पर बल दे रहे हैं कि देव प्राण हैं। समस्त क्रियाएँ इन प्राणों का कर्म हैं। यज्ञ का एक अर्थ है- सङ्गतिकरण। सङ्गतिकरण क्रिया के बिना सम्भव नहीं है आर क्रिया प्राण के बिना

सम्भव नहीं है। प्राण ही देव हैं। इसलिए श्रुति कहती है कि देवों ने यज्ञ किया। मैत्रायणीसंहिता कहती है कि प्राणों से यज्ञ सम्पादित हुआ- **प्राणेन यज्ञः सन्ततः**(मैत्रायणी संहिता ४.६.२)। क्योंकि देव=प्राण है, अतः दोनों वक्तव्यों का एक ही अर्थ है।

प्राणों का तप

प्राण का व्यापार आन्तरिक है। इस आन्तरिक व्यापार को ही तप कहा जाता है। नासदीयसूक्त कहता है कि इस तप की महिमा से जो आभु तुच्छ से आवृत्त था वह प्रकट हो गया। साङ्ख्य की परिभाषा का उपयोग करें तो प्रकृति की साम्य-अवस्था प्रलय की अवस्था है। सिसृक्षा स्रष्टा के प्राण में जो अन्तर्व्यापार उत्पन्न करती है उसे श्रुति तप कहती है और साङ्ख्य दर्शन क्षोभ कहता है। नासदीयसूक्त में “**अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्**” कहकर एक बार प्रलय-अवस्था में जल का अभाव बताया गया है। जे. गोंडा तथा डॉ. सूर्यकान्त जैसे विद्वानों ने यहाँ सलिल का अर्थ गतिशील या स्पन्दनशील किया है। इस प्रकार यह भी तप का ही सूचक है। यहाँ “तुच्छ” को सायणाचार्य ने “सदसद्विलक्षण” कहा है। आभु सद्रूप है, जा सदसद्विलक्षण तुच्छ से आवृत्त है। आभु के प्रसङ्ग में तुच्छ शब्द का अर्थ अभ्व मानना चाहिये। प्रलयावस्था में आभु और अभ्व एक दूसरे से अविभक्त थे, तप अथवा प्राण के अन्तर्व्यापार से वे दोनों पृथक् हुए। प्राण का यह व्यापार सिसृक्षा की कामना से हुआ। आधुनिक विज्ञान ब्रह्माण्ड का जन्म एक विस्फोट से मानता है। इस विस्फोट की स्थिति में भी ताप की सत्ता थी, किन्तु ताप का सम्बन्ध जड ऊर्जा से है। तप का सम्बन्ध चेतन प्राण से है। जड ऊर्जा से यदि ब्रह्माण्ड का जन्म होना माना जाय तो ब्रह्माण्ड में देखने वाली व्यवस्था का कोई कारण नहीं ढूँढा जा सकेगा, किन्तु यदि तप से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाय तो तप क्योंकि चेतन प्राण का व्यापार है इसलिए उसमें व्यवस्था स्थापित करने की शक्ति मानी जा सकती है। ऋग्वेद के अघमर्षणसूक्त में ऋषि जब यह कहता है कि तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए तो वह इसी बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि विश्व की व्यवस्था स्रष्टा के तप का परिणाम है-

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत(ऋग्वेद १०.१९०.१)।

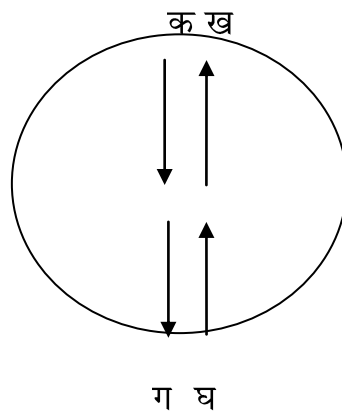
सृष्टि के बनने का अर्थ है- असीम का ससीम हो जाना। जो सीमाबद्ध होता है उसका केन्द्र होता है। स्रष्टा का मन ही पुरुष में आबद्ध पुरुष का केन्द्र है। इस मन की कामना ही प्राण देवों को व्याप्त करती है। प्राण देवों का यह व्यापार ही उस यजन अथवा सङ्गतिकरण का कारण है जो यजन अथवा यज्ञ-सृष्टि को उत्पन्न करता है।

गति-आगति

हम पहले कह चुके हैं कि मन की कामना से उत्पन्न होने वाला यह प्राणों का व्यापार मुख्यतः दो भागों में बँटा है- केन्द्र से परिधि की ओर गति और परिधि से केन्द्र की ओर आगति। प्रथम गति इन्द्र की है, दूसरी गति विष्णु की है। इन्हीं दो गतियों के बीच होने वाल सङ्घर्ष को ऋग्वेद में “इन्द्रश्च विष्णुश्च पस्पर्धाते” कहकर अभिव्यक्त किया गया है परिधि की ओर इन्द्र की गति पदार्थ को विस्तार देती है, जो अग्नि का कार्य है तथा विष्णु के केन्द्राभिमुख गति सङ्कोच करती है, जो सोम का रूप है। अग्नि में पड़ने वाली सोम की आहुति ही यज्ञ है। स्पष्ट है कि इस यज्ञ को देव सम्पन्न करते हैं।

प्राणों की अथवा देवों की यह गति तपरूप है। यह गति अन्धी नहीं है, अपितु ज्ञानमय है- **यस्य ज्ञानमयं तपः**। इसीलिए सायणाचार्य ने तप का अर्थ सृष्टव्य-पर्यालोचन किया है। नासदीयसूक्त में “हृद्” शब्द का प्रयोग है। यहाँ कहा गया है कि “हृद्” में ही कवियों ने बुद्धि द्वारा असत् से सत् का सम्बन्ध खोजा- **सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा**। ब्राह्मणग्रन्थों में इस हृदय शब्द की व्याख्या करते हुए “हृ” को विष्णु का आहरण “द” को इन्द्र का अवखण्डन और “यम्” को ब्रह्मा की स्थिति कहा गया है। ये तीनों मिलकर ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

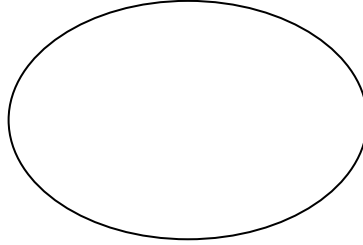
नासदीयसूक्त में केन्द्राभिगामी तथा केन्द्रप्रतिगामी गतियों को अधः ओर उपरि शब्द द्वारा कहा गया है- **अधः स्वदासीत् उपरि स्वदासीत्**। एक वृत्त में यदि अधः और उपरिगतियाँ बनाई जायें तो कुछ गतियाँ केन्द्राभिगामी होंगी, कुछ केन्द्र-प्रतिगामी।



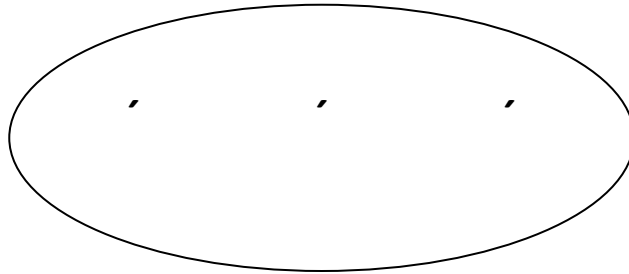
ऊपर के चित्र में क रेखा की अधोगति केन्द्राभिगामी है और ख रेखा की उपरिगति केन्द्रप्रतिगामी है। इसी प्रकार ग रेखा की ऊर्ध्वगति केन्द्राभिगामी है और घ रेखा की अधोगति केन्द्रप्रतिगामी है। इन दोनों गतियों में केन्द्राभिगामी गति विष्णु है, केन्द्रप्रतिगामी गति इन्द्र है। स्वयं केन्द्र अविचाली है। वह इन दोनों प्रकार की गतियों का आधार है। वही ब्रह्मा है। केन्द्राभिमुखगति के साथ जो केन्द्र की ओर आता है उससे पिण्ड का विस्तार होता है। यह अग्नि और सोम मिलकर ही पिण्ड को सुरक्षित रखते हैं। अग्नि में सोम की आहुति वह यज्ञ है, जिससे सृष्टि बनी है।

अक्षर से क्षर

गीता की भाषा में मन का सम्बन्ध अव्ययपुरुष से है तो प्राण की गति का सम्बन्ध अक्षर-पुरुष से है। यह अक्षरपुरुष की गति ही उस क्षर-पुरुष को जन्म देती है जिसे हम भौतिकजगत् कहते हैं। नासदीयसूक्त में ऊर्ध्वगति और अधोगति के अतिरिक्त तिरश्चीनगति का भी उल्लेख है। यह तिरश्चीनगति पृथिवी जैसे पिण्डों के सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने से अण्डाकृति मार्ग का निर्माण करती है। अण्डाकृति में अण्डाकृति को चित्रित करने वाली हर रेखा तिरश्चीन अथवा तिरछी होती है। नीचे बनाई गई अण्डाकृति को देखने से यह स्पष्ट हो जाती है-



इस अण्डाकृति को अस्यवामीयसूक्त में त्रिनाभिचक्र कहा गया है, क्योंकि वर्तुलाकारगति का एक केन्द्र हाता है अण्डाकृति के तीन केन्द्र रहते हैं, जैसा कि नीचे के चित्र में स्पष्ट है-



इस प्रकार तिरश्चीन गति से पिण्डों का निर्माण होता है।

अक्षर पुरुष की गति के द्वारा जिस क्षरपुरुष का निर्माण होता है उसे नासदीयसूक्त की भाषा में दो भागों में बाँटा जा सकता है- स्वधा और प्रयति। स्वधा अन्न है। यहाँ अन्न से अभिप्राय समस्त भोग्य पदार्थों से है। प्रयति भोक्ता है। भोग्य अवर है। प्रयति उत्कृष्ट है-

स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्। सायण का भाष्य है- स्वधा अन्ननामैतत्। भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत्।

तप के पश्चात् श्रम तथा त्रिविध छन्द

प्राण का अन्तर्व्यापार यदि तप है तो भूत का बहिर्व्यापार श्रम है। भौतिकजगत् की उत्पत्ति का अन्तिम चरण यह श्रम ही है। श्रम द्वारा जब सृष्टि का निर्माण होता है तो तीन बिन्दुओं पर विचार किया जाता है

१. किस उपादान से सृष्टि का निर्माण हो? पारिभाषिक शब्दावली में इसे माछन्द कहा जाता है। इस का सम्बन्ध पृथिवी से है।
२. वह उपादान कितने परिमाण में हो? इसे प्रमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है।
३. वह उपादान किस ढाँचों में ढाला जाये? इसे प्रतिमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध द्युलोक से है।

उदाहरणतः घट का उपादान कारण मिट्टी है। वह उसका माछन्द है। जितने परिमाण में घड़ा बनाने के लिये मिट्टी चाहिये वह उसका प्रमाछन्द है तथा ढाँचे में घड़ा बनाने के लिये उस मिट्टी को ढालना है वह उसका प्रतिमा छन्द अथवा मॉडल है।

ऊपर हमने कहा कि माछन्द का सम्बन्ध पृथिवी से है, क्योंकि किसी भी पदार्थ का उपादान कारण कोई मूर्ततत्त्व ही होता है। परिमाण के लिये प्रयुक्त होने वाला प्रमा छन्द अन्तरिक्ष से सम्बद्ध है, क्योंकि पदार्थ का परिमाण अन्तरिक्ष में ही रहता है। मॉडल अथवा ढाँचे को बताने वाला प्रतिमाछन्द द्युलोक से सम्बद्ध है, क्योंकि पदार्थ का ढाँचा हमारे ज्ञान में रहता है और ज्ञान का सम्बन्ध द्युलोक से है। इस प्रकार ये तीनों छन्द मिलकर पदार्थ के निर्माण में पूर्णप्रक्रिया को व्याख्यायित करते हैं।

आभु का सर्वव्यापी भाव

नासदीयसूक्त में आने वाले आभु शब्द की चर्चा हमने की है। आभु शब्द में आ उपसर्गपूर्वक भू धातु है। नासदीयसूक्त का ऋषि आ उपसर्गपूर्वक भू धातु का प्रयोग इसी सूक्त में छठे और सातवें मन्त्र में भी करता है- “अथा को वेद यत् आबभूव” एवम् “इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव”। उद्भवति, प्रभवति, सम्भवति, आविर्भवति आदि शब्दों का प्रयोग होने के अर्थ में किया जाता है, किन्तु सृष्टि के उत्पन्न होने के प्रसङ्ग में इन शब्दों को छोड़कर ‘आभवति’ का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग सृष्टि और स्रष्टा के एक विशेष सम्बन्ध को बताता है। ‘हिमालयात् गङ्गा प्रभवति’ जैसे वाक्यों में हिमालय से गङ्गा के उत्पन्न होने की बात कही जाती है, किन्तु हिमालय और गङ्गा का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि गङ्गा हिमालय से उत्पन्न होकर अलग हो जाती है और हिमालय अलग रह जाता है। इसके विपरीत स्रष्टा सृष्टि का निर्माण करके स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये इस अन्तर को बताने के लिये वैदिक ऋषि ने किसी और उपसर्ग का उपयोग न करके आ उपसर्ग का प्रयोग किया है। मिट्टी से घड़ा बनने के सन्दर्भ में, यद्यपि मिट्टी घड़े में ओतप्रोत रहती है, तथापि केवल मिट्टी ही घड़े को नहीं बनाती है, घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की अपेक्षा है, जो घट से सर्वथा पृथक् है। सृष्टि के निर्माण में स्रष्टा ही उपादानकारण है और स्रष्टा ही निमित्तकारण है। जैसे मकड़ी अपने जाल को बुनने के लिये स्वयं ही निमित्त होती है और जाले का उपादान तन्तु भी अपने में से ही उत्पन्न करती है- यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च। इस प्रकार के सम्बन्ध को बताने के लिए ऋषि ने आ उपसर्ग का प्रयोग न केवल ‘आबभूव’ में किया अपितु ‘आजाता’ क्रिया में भी किया। आ का अर्थ है सर्वतोभावेन। अर्थात् स्रष्टा सृष्टि का सर्वतोभावेन कारण है। सृष्टि में किसी कारणान्तर की उपेक्षा नहीं है।

वेद तथा वेदोत्तर साहित्यः समन्वय का मार्ग

मन की कामना से युक्त पुरुष गीता का अव्यय पुरुष है, प्राणों के तप से युक्त अक्षर पुरुष है तथा भूतों के श्रम से युक्त क्षर पुरुष है। इस प्रकार वेदों के रहस्य को समझे बिना गीतादि अध्यात्म के तथा ब्रह्मसूत्रादि दर्शन के ग्रन्थों का रहस्य अनुद्घाटित ही रह जाता है। वस्तुतः अव्यय पुरुष को केन्द्र में रख कर वेदान्त अक्षर पुरुष को केन्द्र रखकर साङ्ख्य तथा क्षर पुरुष को केन्द्र में रखकर वैशेषिक दर्शन प्रवृत्त होता है। यह इन दर्शनों के बीच समन्वय का मार्ग वेदों के अध्ययन से प्रशस्त होता है।

मन का महत्व

शतपथ ने स्पष्ट कर दिया चञ्चल मन के द्वारा तो कुछ भी करना सम्भव नहीं है- न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् (शतपथ ६.३.१.१४) मन कामनाओं का सरोवर है (जैमिनीय-ब्राह्मणोपनिषद् १.१८.३.३) सब सर्जन के मूल में कामना ही है। कुछ भी कर्म करने से पहले अपनी इच्छा को संभालें। क्या हमारी इच्छा वास्तविक है, न्याय्य है, कल्याणकारो है, स्वाभाविक है? यदि हमारी इच्छा ही दूषित है तो यज्ञ से क्या फलित होगा- **बूये पेड़ बबूल के आम कहाँ ते खाय ?**

मनोबल के सम्मुख संसार के समस्त पदार्थ नगण्य हैं, मनोबल अपरिमित है, पदार्थ परिमित हैं। (शतपथ १.४.४.७) पदार्थ तो मन के पीछे ऐसे चले आते हैं जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे चलती है (जैमिनीय ब्राह्मण १.१९) मन चाहे और पदार्थ न मिले, यह हो ही नहीं सकता- **जा को जा पर सत्य सनेहू। सो ते हि मिले न कछु सन्देहू।। स्नेह सत्य होना चाहिये।**

सृष्टि में मन का योगदान

जब तक मन सीमित न हो तब तक केन्द्र नहीं बनता, केन्द्र के बिना कामना नहीं, कामना के बिना क्षोभ नहीं, क्षोभ के बिना विकार नहीं और विकार के बिना सृष्टि नहीं।

मन जब सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तो उसमें प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं। प्राण क्रियारूप है, जो स्थूलता में बद्ध होकर वाक् में परिणत हो जाता है। विज्ञान और आनन्द विद्या हैं, प्राण और वाक् अविद्या हैं। प्राण का आधार अक्षरपुरुष है और वाक् का आधार क्षरपुरुष बनता है। अक्षर निमित्त है, क्षर उपादान है। अव्ययपुरुष कारणातीत है।

मन इच्छा करता है, प्राण तप तथा वाक् श्रम। मन का विकसित रूप काम है, प्राण का विकम्पित रूप तप है तथा वाक् का विकम्पित रूप श्रम है। इन तीनों से ही सृष्टि बनती है- **सोऽकामयत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्** (शतपथब्राह्मण १४.४.३.१०)। मन की वासनायुक्त इच्छा बन्धन का कारण है। ईश्वर के मन में कोई वासना नहीं होती अतः वहाँ बन्धन नहीं होता। जितनी इच्छा है, उतना ही प्राण और उतनी ही वाक्। प्रसार मन की पूर्णता है। मन परात्पर जैसा पूर्ण होना चाहता है, किन्तु प्राण के बलवान् न होने से वैसा नहीं कर पाता, इसलिए अपूर्ण रहता है। प्राण और वाक् का एक रूप मन से अन्तर्यामसम्बन्ध से जुड़ा है- अशनाया से उठने वाला प्राण और अशिति रूप में प्राप्त होने वाला वाक् उस प्राण और वाक् से भिन्न है, इसलिए अपूर्णता का अनुभव होता है। अपूर्ण मन चञ्चल होता है। वह प्राणों को प्रेरित करता है। यही काम का स्वरूप है। प्राण का इच्छित पदार्थ को छोड़ना तपस्या है। तप से ही सृष्टि होती है।

अपना जो अंश दूसरे को दिया जाता है, वह तप है। इसके द्वारा कामनाओं की पूर्ति होती है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है। क्षत्रिय का तप रक्षा है। यज्ञ, तप और दान तीनों तप ही हैं। मानवभाव का दैवभाव को अर्पण कर देना यज्ञ है। तप में विराट् का अंश दूसरे को दिया जाता है। दान में मन को चारों ओर से काट दिया जाता है।

क्योंकि यह अव्ययपुरुष ससीम है इसलिए इसका केन्द्र भी है। अव्ययपुरुष का यह केन्द्र ही मन कहलाता है, क्योंकि यह मन अस्मादि के मन से भिन्न है। इसलिए इसे अलग नाम दिया गया है—श्रवसीयस् मन। श्रवसीयस् मन के दो अर्थ हैं— १. जो श्वः अर्थात् कालभाव से अवसीयस् अर्थात् असङ्ग है और २. जो श्वः=सदा, वसीयस्= वर्धमान है। मन का धर्म है— कामना। अव्ययपुरुष के इस मन में कामना उत्पन्न हुई, किन्तु यह कामना उसके मन का सहज धर्म है। इसके पीछे किसी प्रकार का राग-द्वेष जैसा भाव नहीं है। यह कामना थी एक से अनेक हो जाने की कामना। इस कामना के कारण अव्ययपुरुष की मन के अतिरिक्त चार कलाएँ और उत्पन्न हो गईं। विज्ञान और आनन्द की कला रसभाव की अधिकता से पैदा हुई। प्राण तथा वाक् की कला बलभाव की अधिकता से पैदा हुई।

मन निर्लेप है, क्योंकि कोई विषय इसके साथ स्थायी रूप से नहीं जुड़ता है। इसमें विषय आते-जाते रहते हैं। मन आकाश के समान असङ्ग रहता है। जिस प्रकार आकाश में सब पदार्थ रहते हैं, किन्तु आकाश किसी से जुड़ता नहीं है उसी प्रकार मन में सब विषय रहते हैं, किन्तु मन किसी से जुड़ता नहीं है। मन आकाश के समान निष्क्रिय भी है। पदार्थ उसमें आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु वह उन पदार्थों की क्रिया से साथ स्वयं क्रिया नहीं करता है। वस्तुतः क्रिया प्राण में होती है, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह मन में हो रही है।

मन न छोटा है, न बड़ा है। वह जिस विषय का चिन्तन करता है, उसी के आकार का हो जाता है। राई का चिन्तन करते समय वह राई के आकार का और विश्व का चिन्तन करते समय वह विश्व के आकार का हो जाता है।

मन का गुण है काम। अपने से बड़ों के प्रति श्रद्धा का भाव, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबर वालों के प्रति स्नेह और जड़ पदार्थों के प्रति काम—ये मन के ही गुण हैं।

वेद के अनुसार कोई पदार्थ जड़ नहीं है, इसलिये मन सर्वव्यापक है। मन ही विद्याबल से ज्ञान और अविद्याबल से कर्म बन जाता है। ज्ञान कर्म को प्रकट करता है। कर्म मर्त्य है। ज्ञान अमृत और मन

इन दोनों का सन्धिस्थान है। सृष्टि के प्रारम्भ में मन की कामना ही प्रादुर्भूत होती है। यही केन्द्रात्मक रस-बल-मूर्ति है। मन अन्न से बना है- **अन्नमयं हि सौम्य!** मनः। अन्न की सात्विकता पर मन की निर्भर करती है। बलों की अधिकता से मन का स्थूल रूप बढ़ता है। अविद्या, अस्मिता, आसक्ति और अभिनिवेश- मन को स्वच्छन्द बनाते है। बुद्धि के चार धर्मों से ज्ञान अविद्या का , ऐश्वर्य अस्मिता का वैराग्य आसक्ति का और धर्म अभिनिवेश का नियन्त्रण करता है। काम मन का सहज धर्म है। वह प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में है, इसलिये जो मन को वश में कर लेता है, वह सारे संसार को वश में कर लेता है। काम के सम्बन्ध में वेद का कहना है कि वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, न उसे देव जान सकते हैं, न पितर, न गन्धर्व। वह अत्यन्त महान् है--

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥

(अथर्ववेद ९/२/१९)

मन काम के द्वारा सब वस्तुओं को ग्रहण करता है। अङ्गुलि में क्रिया, मन के व्यापार द्वारा प्रेरित प्राण के व्यापार से होती है। जिस प्रकार जाति में जाति नहीं है, प्राण में प्राण नहीं है, उसी प्रकार मन में मन नहीं है। मन के बिना क्रिया सम्भव नहीं और मन में मन नहीं है इसलिये स्वयं मन में कोई क्रिया नहीं होती है। मन चेतना से जुड़कर चिदात्मा कहलाता है। यह सबका आलम्बन अव्यय है। इसकी व्युत्पत्ति होगी- जिसमें चयन होता है- चीयतेऽस्मिन्।

मन की दूसरी स्थिति अक्षर है। वहाँ मन का अर्थ होगा- जिसके द्वारा चयन होता है, चीयतेऽनेन। ये दोनों ही चिदात्मा हैं। विद्या के कारण मन को ज्ञानात्मा कहा जाता है। अविद्या से अविच्छिन्न मन कर्मात्मा कहा जाता है। चिति का अर्थ है- कर्म में कर्म कर चिति। इसे वासना कहते हैं। चिति का दूसरा अर्थ है- ज्ञान में ज्ञान की चिति। इसे भावना कहते हैं। भावना का ही दूसरा नाम संस्कार है। ज्ञान में स्नेह नहीं होता, इसलिये उसकी चिति नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान में भी सूक्ष्म रूप में कर्म रहता है। वही ज्ञान की चिति नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान में भी सूक्ष्म रूप में कर्म रहता है। वही ज्ञान की चिति का कारण बन जाता है।

मन की तीन कलाएँ मानी जाती हैं -ज्ञानात्मा शुद्ध ज्ञान है, कामात्मा शुद्ध काम है, कर्मात्मा शुद्ध कर्म है। मध्यस्थ का कामात्मा ज्ञान और कर्म दोनों से युक्त है। कर्म को ज्ञान का विरोधी होने के कारण

अज्ञान कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसीलिये प्राणी मोहित होते हैं। इन तीनों में कर्म ही स्थान रोकता है, ज्ञान और काम स्थान नहीं रोकते। ज्ञान और कर्म एक दूसरे में ओतप्रोत हैं, किन्तु मुख्यता की उपेक्षा हम एक को ज्ञान तथा दूसरे को कर्म कह देते हैं।

सृष्टि का बीज अव्ययमन है। काम उसका प्रथम लक्षण है। मायाबल से असीमपरात्पर में सीमा बनने पर केन्द्र बनता है। केन्द्र के बिना मन नहीं हो सकता। मन के बिना कामना नहीं हो सकती और कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता तथा कर्म के बिना सृष्टि नहीं हो सकती।

सृष्टि का कारण श्रोवसीयस्मन है। यह प्रतिदिन भूमारूप होने के कारण श्रोवसीयस् कहलाता है। इस मन में जब एक से अनेक होने की इच्छा होती है, तो प्राण तप में संलग्न होता है और वाक् श्रम करती है। मन से ज्ञान, प्राण से कर्म तथा वाक् से पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ज्ञान, कर्म और अन्न ही विश्व हैं। हमारे ज्ञान में क्रियावान् पदार्थ प्रतिफलित होते हैं।

मन का दूसरा रूप सङ्कल्पविकल्पात्मक मन है। इस का निश्चित धर्म है। अतः यह इन्द्रिय है। मन का एक तीसरा रूप वह है, जो सभी इन्द्रियों के विषय में अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध कराता है। इसलिये उसे सर्वेन्द्रिय मन कहते हैं। सुषुप्ति में जब वह अपना कार्य बन्द कर देता है तो इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द हो जाता है। इन्द्रिमन पार्थिवभास्वरसोम से बना है। सर्वेन्द्रियमन चान्द्रसोम से बनता है। वासनात्मक संस्कार सर्वेन्द्रिय मन पर ही अङ्कित होते हैं।

एक चौथा मन सत्त्वमन है। सुषुप्ति में इन्द्रियमन के व्यापार रुक जाने पर भी रक्तसंचार, श्वास-प्रश्वास इस सत्त्वमन के कारण होता है। सर्वेन्द्रियमन की इच्छा जीव की इच्छा है, किन्तु सत्त्वमन, जिसे महत् भी कहते हैं, ईश्वरेच्छा से जुड़ा है। सर्वेन्द्रिय मन चान्द्र सोम से जुड़ा है। सत्त्वमन पारमेष्ठीयसोम से जुड़ा है। अव्ययमन महत्मन से भी अधिक सूक्ष्म है।

मन से जुड़ी आकाङ्क्षा दो प्रकार की हैं; अपने आप उत्पन्न की हुई आकाङ्क्षा उत्थित आकाङ्क्षा कही जाती है। वासना की प्रेरणा से उठती हुई इच्छा उत्थाप्य-आकाङ्क्षा कहलाती है। उत्थित आकाङ्क्षा सहज है। उसके सम्बन्ध में कब क्यों इत्यादि प्रश्न नहीं किये जा सकते। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न अव्यय से जुड़ा है। जो प्रकृति से परे है उसके सम्बन्ध में तर्क की गति नहीं है। वह ईश्वर की सहज इच्छा है। अव्यय के श्रोवसीयस् नामक मन में जो कामना सिसृक्षा के रूप में होती है उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं

किया जा सकता । वह सहज ही भोजन की इच्छा या सोने की इच्छा के समान है । ऐसी निष्कामभावना से किया गया कर्म स्वयं ही होता रहता है, किया नहीं जाता है ।

मन की इस कामना का स्वरूप है- एक के अनेक बनने की इच्छा । जैसे ही यह इच्छा उत्पन्न होती है, एक क्षोभ या एक क्रिया उत्पन्न हो जाती है । यह क्षोभ या क्रिया प्राण का व्यापार है । जैसे सृष्टि की कामना करने वाला मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं, अपितु अव्ययपुरुष का मन है वैसे ये प्राण भी अव्ययपुरुष के प्राण हैं । हमारी कामना उस अव्ययमन की कामना का एक बहुत छोटा हिस्सा है । हमारा प्राण भी उस अव्ययपुरुष के प्राण का एक बहुत छोटा हिस्सा है । यह क्रिया सृष्टि को जन्म देती है । मन की कामना नितान्त अव्यक्त है, क्रिया व्यक्ताव्यक्त है, किन्तु उस क्रिया से उत्पन्न होने वाले पदार्थ व्यक्त हैं । इन व्यक्त पदार्थों का नाम वाक् है । इन्हें वाक् इसलिये कहा जाता है कि वाक् अर्थात् शब्द आकाश का गुण है और व्यक्तसृष्टि में जो पाँच भूत हमें उपलब्ध होते हैं उनमें सबसे पहला आकाश ही है । ये पञ्चभूत, प्राण और मन मिलकर वे सात तन्तु हैं, जिनमें सृष्टि का पट बुना गया है ।

वाक् तथा मन के बीच की शृङ्खला प्राण की रज्जु

प्राण मन तथा पदार्थ के बीच की कड़ी है । प्राण मानों एक रस्सी है जिसके दो छोरों में से एक छोर से मन बँधा है, दूसरे छोर से पदार्थ और इस प्रकार मन तथा पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है । मन सूक्ष्म है, पदार्थ स्थूल; ये दोनों सीधे आपस में नहीं जुड़ सकते । प्राण, जो कि न बहुत सूक्ष्म है न बहुत स्थूल, मध्यवर्ती, बनाकर इन दोनों को जोड़ देता है- **प्राण एव रज्जुः । प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते** (शतपथ ३.१.४.२) ।

मन की कामना प्राण की गति द्वारा अपूर्व की उत्पत्ति करती है

प्राण के माध्यम से मन का पदार्थ से जुड़ने का क्रम सङ्क्षेप में इस प्रकार है- मन की कामना प्राण को गति देती है तथा प्राण की गति वाक् अर्थात् पदार्थ का निर्माण करती है । मन की कामना यज्ञ की परिभाषा में सङ्कल्प है । प्राण में गति देवों की स्तुति स होती है तथा उसी गति से पदार्थ का निर्माण अपूर्वोत्पत्ति है । यजमान के सङ्कल्पानुकूल अपूर्वोत्पत्ति हो जाये इसी में यज्ञ की सफलता है । ऋत्विज यह जानता है कि किस सङ्कल्प की पूर्त्यर्थ किस प्राण अर्थात् देव की किस मन्त्र से स्तुति की जाये कि वह

प्राण अथवा देव उस सङ्कल्पानुकूल गति करके अभीष्ट पदार्थ को दे दे। ऋत्विज का यही ज्ञान विज्ञान है। जिस ऋत्विज को इस यज्ञविज्ञान का समीचीन ज्ञान नहीं उसके द्वारा सम्पादित यज्ञ अभीष्ट फल नहीं देगा।

प्राणवत्ता और यज्ञ

सकल पदार्थ हैं जग माँही। कर्महीन नर पावत नाहीं। इच्छा के बाद इच्छानुकूल व्यापार चाहिये। व्यापार प्राण का धर्म है। प्राण को मन की इच्छा और अभीष्ट पदार्थ के बीच इन दोनों को बाँधने वाली रस्सी बताया गया है- प्राण एव रज्जुः प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते। (शतपथ ३.१.४.२) मन की कामना प्राणों को उद्वेलित कर देती है। प्राणों की गतिशीलता ही पदार्थ को जन्म दे देती है। इसलिये कह जाता है कि प्राण ही यज्ञ का सम्पादन करता है- प्राणैरु यज्ञस्तायते। (जैमिनीय ब्राह्मण २.४३१) प्राणेन यज्ञः सन्ततः। (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)

विज्ञान की भाषा में जो प्राण हैं, धर्म की भाषा में वे ही देव हैं। मन की मनन शक्ति अर्थात् मन्त्र शक्ति प्राण शक्ति अर्थात् देवशक्ति को सञ्चालित करती है- एते वै देवा मनोजाता मनोयुजो यदिमे प्राणाः। (मैत्रायणी संहिता ३.६.९) सब प्राणों का अधिपति मन है, मन में ही प्राण प्रतिष्ठित हैं- मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। (शतपथ १४.३.२.३) अभिप्राय यह है कि मन सूक्ष्म है, प्राण स्थूल हैं। अतः मन ही प्राणों का नियन्ता है। जब प्राण मन से जुड़ते हैं तो वे दक्ष और समर्थ हो जाते हैं- इमे वै प्राणाः मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवः। (शतपथ ३.२.२.१३) मन और प्राण आपस में इतने घनिष्ठ रूप में जुड़े हैं कि मन को प्राणों का आधा भाग कहा गया है। अर्धभागवै मनः प्राणानाम्। (षडविंश ब्राह्मण १.५.५) यज्ञ में मन की शक्ति, जो मन्त्र रूप में अभिव्यक्त होती है, प्राणों को समृद्ध बनाती है अतः यज्ञ द्वारा प्राणों को समर्थ बनाने का आदेश दिया गया है- प्राणो यज्ञेन कल्पताम् (जैमिनीय ब्राह्मण २.७७)

कामना की मर्यादा

बारम्बार इच्छा को बन्धन का कारण माना गया है किन्तु बिना इच्छा के कोई कर्म भी नहीं होता। वस्तुतः मन दो प्रकार का है शुद्ध और अशुद्ध-

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चाशुद्धञ्चैव।

अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्- (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १.१)

ज्ञान के अर्जन करने की इच्छा और ज्ञानानुकूल व्यवहार करने की इच्छा वर्जित नहीं है-

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः (मनुस्मृति, २.२)

ब्रह्म में जो सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा होती है वह इच्छा उसके शक्ति की अभिव्यक्ति है। हम सब में भी जो शक्ति है वह कर्म के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। आत्माभिव्यक्ति की इच्छा स्वभाविक है। ऐसी इच्छा बन्धन का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण ने गीता में युद्ध को अर्जुन का स्वधर्म बताया है और कहा है स्वधर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेष्ठ है किन्तु परधर्म भयावह- **स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**। वेद में ब्रह्म की उस शक्ति को जो जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है स्वधा कहा गया है। यह उसकी स्व की शक्ति है जिसे वह धारण करता है। हम सब में पृथक्-पृथक् प्रकार का वीर्य है। वही वर्ण व्यवस्था का आधार है। अपने स्वभाव क अनुकूल कर्म आनन्द का कारण है, बन्धन का कारण नहीं।

जहाँ मन प्राणों को नियंत्रित करता है वहाँ प्राण अर्थ को नियंत्रित करते हैं- प्राणो वाचस्पतिः (शतपथब्राह्मण, ६.३.१.१९) यह प्राण निरन्तर गतिशील हैं- **अधुवं वै तद्यत्प्राणः** (शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१९)। प्राणों से ही यज्ञ सम्पन्न होता है-**प्राणेन यज्ञः सन्ततः** (मैत्रायणी संहिता, ४.६.२) ये सब कर्म की महिमा को बताता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का केन्द्र बिन्दु यज्ञ है। यज्ञ का महत्व यह है कि वह इष्ट फल का देने वाला होकर भी बन्धन का कारण नहीं बनता- **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** (गीता, ३.९) यज्ञ के इस महत्व को समझने के लिये हमें प्रकृति में स्वयं चलने वाले यज्ञ के स्वरूप को समझना होगा।

एक प्रश्न श्रौत यज्ञों के सम्बन्ध में यह पैदा होता है कि श्रौतयज्ञ करना आज अत्यन्त दुष्कर है तो फिर उनकी चर्चा का क्या औचित्य है। यदि यज्ञ का अनुष्ठान करना ही नहीं है तो फिर यज्ञविज्ञान को समझने का श्रम भी क्यों किया जाये? उत्तर यह है कि यज्ञ दो प्रकार के हैं-वैध यज्ञ और प्राकृत यज्ञ। वैध यज्ञ वे हैं जिनका प्रतिपादन शास्त्र में है और जिनका अनुष्ठान दुर्लभ होने की बात हमने ऊपर कही है। किन्तु इन वैध-यज्ञों का आधार प्राकृत यज्ञ है जो सदा सर्वत्र चलता ही रहता है। जिसका एक सङ्केत हमने अभी ऊपर किया है।

प्राकृत यज्ञ ही वैधयज्ञ की विधि का आधार है। विधियज्ञ का अनुष्ठान हो या न हो प्रकृति में तो यज्ञ चलता ही है। प्रकृति में चलने वाले इस यज्ञ के बिना विश्व का अस्तित्व एक क्षण के लिए भी सम्भव नहीं है और न ही उस प्राकृत यज्ञ के बिना कोई नया पदार्थ उत्पन्न हो सकता है। इस प्राकृत यज्ञ की समझ हमें एक नवीन अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। कि हम अपनी जीवनयात्रा किस प्रकार चलायें।

प्राकृतिक यज्ञ की सर्वव्यापकता

यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है जिसके तीन अर्थ हैं- देवपूजा, दान और संगतिकरण संगति में गति शब्द है। गति क्रिया का वाचक है। यह क्रिया दो प्रकार की है- अन्तर्मुख और बहिर्मुख। अग्नि बहिर्मुख है, सोम अन्तर्मुख है। अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है। अग्नि से विस्तार होता है, सोम से संकोच होता है। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है- **सोमोऽन्नमग्निरन्नादः** (काठकसङ्कलन, १४०) अग्नि और सोम का यह

संगतिकरण ही यज्ञ है जिससे सारा जगत ओतप्रोत है-**अग्निषोमात्मकं जगत्** (बृहज्जाबालोपनिषद् २.४) यह यज्ञ ही सारे विश्व का केन्द्र बिन्दु है-**यज्ञमाहुर्भुवनस्य नाभिम्** (तैत्तिरीयसंहिता, ७.४.१८.२) यज्ञ विद्या का नाम ही विज्ञान है- **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्मापि च** (तैत्तिरीयारण्यक, ८.५.१) ब्रह्म मूल है, कर्म तूल है। दोनों का ज्ञान आवश्यक है- ज्ञानं विज्ञानसहितम् (गीता ८.१)

यज्ञ से गर्भ निर्माण

यज्ञ के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं होता सर्वप्रथम मनुष्य के जन्म की ही कथा को लें। मनुष्य का जन्म जिस यज्ञ से होता है उसे चयनयज्ञ कहा जाता है। हमारे अस्तित्व के पाँच स्तर हैं- अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द। इनमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है। माता के गर्भ में बालक के आते समय माता-पिता के अस्तित्व के ये पाँचों स्तर आपस में मिलते हैं और उस मिलने से बालक के अस्तित्व के भी पाँचों स्तरों का निर्माण हो जाता है। शुक्र और रज का मिलना प्रथम स्तर है जिससे बालक के शरीर का निर्माण होता है। यही अन्नमय स्तर है। गर्भधारण के समय स्त्री-पुरुष के प्राण अर्थात् प्रयत्न भी परस्पर मिलते हैं जिससे बालक के प्राण का निर्माण होता है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के मन के मिलाने से बालक का मन, दोनों के विज्ञान के मिलने से बालक का विज्ञान और दोनों के आनन्द के मिलने से बालक के आनन्द का निर्माण होता है। क्योंकि इन पाँचों स्तरों पर निर्माण की प्रक्रिया दो-दो के मिलने से होती है इसलिए इसे यज्ञ कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ धातु का एक अर्थ संगतिकरण अथवा दो पदार्थों का परस्पर मिलना है। जब दो पदार्थों का परस्पर मिलन अन्तर्यामि सम्बन्ध से होता है तो एक नये पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है। इसे ही अपूर्वोत्पत्ति कहते हैं। जिसे हमने अन्तर्यामि सम्बन्ध कहा है, उसे वर्तमान विज्ञान रासायनिक मिश्रण कहता है। यज्ञ में क्योंकि पदार्थों का मिश्रण रासायनिक या अन्तर्यामि सम्बन्ध से होता है।

ब्रह्मविज्ञान एवं यज्ञविज्ञान

प्रजापति के तीन विवर्त हैं — आत्मा, ब्रह्म और यज्ञ। इनके आधार पर तीन विज्ञान बन जाते हैं — आत्मविज्ञान, ब्रह्मविज्ञान और यज्ञविज्ञान। इनमें आत्म विज्ञान सबका आधार है। आत्मा विश्वातीत शुद्ध तत्व है। इसका वर्णन उपनिषदों में है, इसके आधार पर ही ब्रह्म और यज्ञ प्रतिष्ठित हैं। इनमें ब्रह्म मौलिक तत्व है और यज्ञ यौगिक तत्व है। आत्मा की प्राप्ति का साधन ब्रह्म और यज्ञ ही है। क्योंकि शुद्ध रूप में आत्मा अविज्ञेय है इसलिये उपनिषदों में ब्रह्म के द्वारा और ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ के द्वारा आत्मतत्व की उपलब्धि को लक्ष्य बनाया गया है। इनमें भी संहिता में ब्रह्म का विज्ञान है और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विज्ञान है। यज्ञ यौगिक है, जिसका यह अर्थ है कि वह दो के सम्मिश्रण से होता है जबकि ब्रह्म मौलिक तत्व है अतः यज्ञविज्ञान को समझने के लिये ब्रह्मविद्या को जानना आवश्यक है। इसलिये संहिता पहले है,

ब्राह्मण भाग बाद में है। संहिता के भी तीन भाग हैं— मन्त्र, स्तुति और इतिहास। इन तीनों में मन्त्र भाग में ब्रह्मविज्ञान है।

प्रकारान्तर से ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञविज्ञान है, आरण्यकों में उपासना है और उपनिषद् में ज्ञान है। इस प्रकार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में विज्ञान, स्तुति, इतिहास, कर्म, उपासना और ज्ञान का समावेश हो जाता है।

प्रकृति का स्वरूप यज्ञविज्ञानात्मक है। उस यज्ञविज्ञान की प्रतिष्ठा ब्रह्मविज्ञान है। यदि यज्ञविज्ञान ब्रह्मविज्ञान का सहारा लिये बिना चलता है तो वह विनाश का कारण बन जाता है। जहाँ तक ब्रह्म शब्द का अर्थ है उसे अनुगम के आधार पर समझना होगा। कुछ शब्द निगमात्मक होते हैं जिनका एक निश्चित अर्थ होता है। किन्तु कुछ शब्द प्रसङ्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, ऐसे शब्द अनुगम कहलाते हैं। ब्रह्म शब्द एक ओर विश्वातीत अनवच्छिन्न, निर्गुण, निरञ्जन, किसी व्यापक तत्त्व का बोध कराता है— स्वाभाविक है कि ऐसे तत्त्व का कर्म और उपासना से तो कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, वह ज्ञान का विषय भी नहीं बन सकता— किन्तु दूसरी ओर गीता में कहा गया है— ‘**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**’ अर्थात् ब्रह्म अक्षर से उद्भूत हुआ। स्पष्ट है कि यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ किसी भौतिक तत्त्व से है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म तो अनादि है जिसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं होता। ब्रह्म शब्द के प्रसङ्ग में ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र भी विचारणीय है—

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ - (ऋक्सं १०।८१।४)

“वह ऐसा कौनसा जङ्गल था, उस जङ्गल में वह ऐसा कौन सा वृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह द्यावापृथिवीरूप लोकभुवन निर्मित हो गया ? मैं मनीषी-तत्त्वज्ञ- विद्वानों से अपने मन से ही यह पूछ रहा हूँ कि, जिस किसी उस तत्त्व ने- यों उस जङ्गल के वृक्ष से काट-छाँट कर बन जाने वाले लोकों को अपने ऊपर धारण कर लिया उसका क्या स्वरूप है ?” यह इस मन्त्र का अर्थ है। मन्त्र में प्रश्न तो किया गया किन्तु उत्तर तैत्तिरीयब्राह्मण में दिया गया—

ब्रह्म वन, ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ -

वस्तुतः उत्तर तो ऋग्वेद में ही दे दिया गया था। ब्राह्मण ने तो केवल उसे स्पष्ट किया। ऋग्वेद में जब किंस्विद् और कः शब्दों का प्रयोग हुआ तो उनका अर्थ ब्रह्म ही था। ब्रह्मतत्त्व वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं हो

सकता। इसलिये उसे किम् शब्द के द्वारा कहा जाता है। किम् शब्द अव्यक्तव्यता का सूचक है। इसी आधार पर निम्न मन्त्र में प्रश्नवाचक कस्मै को ब्रह्मवाचक मानकर प्रश्न का उत्तर भी मान लिया जाता है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामृतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ - (यजुःसंहिता २५।१०)

यही स्थिति केनोपनिषद् के 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इत्यादि अंशों की भी है।

ऊपर जो हमने वन, वृक्ष और शाखा के रूप में ब्रह्म का उल्लेख देखा वहाँ ब्रह्म शब्द तीन अलग अलग अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। वन के रूप में ब्रह्म अव्ययपुरुष है, वृक्ष के रूप में वह अक्षर है और शाखा के रूप में वह क्षर ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मविज्ञान के अन्तर्गत परात्पर, अक्षर और क्षर तीनों का विचार होगा और इस प्रकार ब्रह्मविज्ञान सहज ही यज्ञविज्ञान से भी जुड़ जायेगा। दूसरे शब्दों में ब्रह्मविज्ञान का विषय षोडशकल पुरुष है न कि केवल अव्यय पुरुष।

नासदीय सूक्त में जिन सद्वाद, असद्वाद, रजोवाद आदि का सङ्केत है, वे सब वाद ब्रह्मवाद के बिना अधूरे हैं। ब्रह्मवाद पर ही प्रतिष्ठित होकर ही वे सृष्टिविद्या के रहस्य को खोल सकते हैं। ब्रह्म का सम्बन्ध व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपबृंहण से है। एक ब्रह्म का अव्यय के रूप में साक्षी, अक्षर के रूप में निमित्त और क्षर के रूप में उपादान बन जाना ही उसका उपबृंहण है। इसे ही उसका विवर्त्त, विभूति अथवा महिमा भी कह दिया जाता है। साक्षी के रूप में ब्रह्म कार्यकारणभाव से अतीत है— 'न तस्य कार्य कारणञ्च विद्यते, न तत् समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते' - 'न करोति- न लिप्यते'; निमित्त के रूप में वह अक्षर है— 'तथा - अक्षराद्विधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' तथा क्षर के रूप में वह उपादान है — 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'। अव्यय विश्वेश्वर है, अक्षर विश्वकर्ता है और क्षर विश्वात्मा है। इस रूप में भूत विज्ञान ब्रह्मविज्ञान का ही एक अङ्ग बन जाता है। ब्रह्मविज्ञान से जुड़कर भूतविज्ञान भी पवित्र है। अन्यथा वह विध्वंसक है।

ब्रह्मविज्ञान को हम ज्ञान शब्द से और यज्ञविज्ञान को विज्ञान शब्द से कह देते हैं। ज्ञान का सम्बन्ध निरीक्षण से है, विज्ञान का सम्बन्ध परीक्षण से है। परीक्षण भूत का ही हो सकता है, भूतातीत का नहीं। आचरण का सम्बन्ध परीक्षण से अथवा यज्ञविज्ञान से है।

यज्ञ से शरीर का निर्माण

हमारे शरीर में वैश्वानर अग्नि में हो रहा है, इसमें आहार की आहुति पड़ती है तो रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि बनते हैं। आहार का जो अंश शरीर का भाग बन जाता है वह ब्रह्मौदन है, किन्तु जो अंश आत्मसात् नहीं हो पाता वह यज्ञशेष है। एक का यज्ञशेष दूसरे का ब्रह्मौदन बन जाता है। यही अज्ञीय जीवनशैली है।

इसमें किसी की हिंसा नहीं होती इसलिए इसे अध्वर कहा जाता है। हम सब देवों के यज्ञशेष से ही बने हैं। वायु देव है, उसका जो अंश हमें मिला वह प्राण है, आदित्य देव है उसका जो अंश हमें मिला वह चक्षु है। दिशायें देव है, उनका जो अंश हमें मिला वह श्रोत्र है। पृथ्वी देव है, उसका जो अंश हमें मिला वह वाक् है- **प्राणो वै मनुष्यधूर्वायुर्देवधूः चक्षुर्वै मनुष्यधूरादित्यो देवधूः क्षोत्रं वै मनुष्यधूर्दिशो देवधूः वाग्वै मनुष्यधूः पृथिवी देवधूः** (जैमिनीयब्राह्मण, १.२७०) इसलिए मनुष्य मात्र देवों का ही पुञ्ज है- **नरो वै देवानां ग्रामः** (ताण्ड्यब्राह्मण, ६.९.२) **विश्वे हीदं देवा स्मो यन्मनुष्यः** (मैत्रायणीसंहिता, ३.२.२)

अथर्ववेद में कहा गया है कि हमारे अस्तित्व का निर्माण उच्छिष्ट से हुआ है। अग्नि, वायु और आदित्य का जो भाग पृथिवी, चन्द्र और सूर्य के बनाने में काम आ जाता है वह हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में काम नहीं आता। किन्तु इन पिण्डों के निर्माण से जो अग्नि, वायु, आदित्य का भाग उच्छिष्ट रह जाता है वही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करता है। यह शेष रहा भाग ही देवताओं का प्रसाद है। अग्नि से मेरा शरीर, चन्द्रमा से मन और सूर्य से बुद्धि बनी है। इस प्रकार मेरा कुछ भी नहीं है, सब प्रकृति में चलने वाले विराट् यज्ञ का प्रसाद मात्र है। इसलिये वैधयज्ञ में आहुति देते समय हम पत्येक मन्त्र के अन्त में “इदन्न मम” कहकर ममत्व का त्याग करते हैं।

यज्ञ से अन्न का निर्माण

जिस अन्न से हमारा शरीर बना है, वह अन्न भी यज्ञ से उत्पन्न हुआ है। अन्न के कण का ठोस अंश पृथ्वी से आया है, जिसे दधि कहा जाता है, चिक्कण अंश अंतरिक्ष से आया है, जिसे घृत कहा जाता है और मधुर अंश द्यु-लोक से आया है, जिसे मधु कहा जाता है इस अन्न की जब वैश्वनर अग्नि में आहुति पड़ती है तो शरीर ही नहीं, मन भी बनता है- **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।** (छान्दोग्योपनिषद् ६.५.१-४)। इस प्रकार यह यज्ञ अधिभूत और अध्यात्म दोनों में चल रहा है। यह प्राकृतिक यज्ञ है। इसी की अनुकृति पर वैध यज्ञ का विधान किया जाता है। हमारी सारी कामनायें यज्ञ से ही पूरी होती हैं- **सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते** (तैत्तिरीयसंहिता, २.४.११.२)

वैश्विक यज्ञ का हम पर ऋण

अन्न से हमारे निर्माण को एक अन्य प्रकार से भी देखा गया है। शास्त्रों में सोम को अन्न कहा है। अन्न के पार्थिव भाग से हमारा सप्त-धातु शरीर बनता है, अन्तरिक्ष्य भाग से ओज बनता है और दिव्य भाग से मन। इस प्रकार पूरे त्रिलोकी से अन्न के तीन अंश बनते हैं और अन्न के तीन अंशों से हमारे व्यक्तित्व के तीन अंशों का निर्माण हो रहा है। यही यज्ञ का अध्यात्म स्वरूप है। इस प्रकार त्रिलोक को आहुति अन्न में पड़ रही है और अन्न की आहुति हमारे शरीर में। यह स्वादुता सूर्य के भी ऊपर परमेष्ठी लोक से आती है। इसी से हमारा मनस्तत्त्व पुष्ट होता है। यह स्वादुता ही सोम तत्त्व है। इस प्रकार हमारे पर पूरी त्रिलोकी ऋण है जिसे चुकाने के लिये देवयज्ञ किया जाता है।

धातु जगत् में यज्ञ

वनस्पति जगत से भी नीचे जड जगत् को लें तो वहाँ भी यज्ञ की प्रक्रिया दिखाई देगी। जल में जब वायु प्रविष्ट होती है तो फेन बनता है। फेन में पुनः वायु प्रविष्ट होने पर मिट्टी बनती है। यह एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की आहुति का ही परिणाम है। अग्नि पदार्थ को विशकलित करती रहती है, सोम जोड़ता है। यदि अग्नि न हो तो पदार्थ का विकास न हो, यदि सोम न हो तो पदार्थ विशकलित हो कर बिखर जाये।

वनस्पति जगत् में यज्ञ

केवल हमारी ही उत्पत्ति यज्ञ से नहीं होती, वनस्पति जगत् की उत्पत्ति में भी यज्ञ की प्रक्रिया देखी जा सकती है। वनस्पति पैदा करने के लिए पृथ्वी को खेदना होता है। खोदने पर पृथिवी में अग्नि प्रकट होती है। उसी अग्नि के कारण नीचे की पृथिवी छूने पर गर्म प्रतीत होती है। इस अग्नि में बीज की आहुति दी जाती है। पृथ्वी की अग्नि बीज के आवरण को हटा देती है और अंकुर को प्रकट कर देती है। सूर्य की अग्नि इस अंकुर को अपनी ओर खींचती है, पृथ्वी की अग्नि अपनी ओर। परिणामतः पौधा बढ़ने लगता है। इस पौधे में जल रूपी सोम की आहुति न पड़े तो वह सौर अग्नि के पीतवर्ण के संसर्ग से पीला तो हो जाता है किन्तु जल के अभाव में हरे रंग का नहीं हो पाता।

कामप्र यज्ञ से विश्वोत्पत्ति

शतपथ ब्राह्मण में विश्व की उत्पत्ति यज्ञ से बताई गई है। जिस यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति होती है, उस यज्ञ का नाम कामप्र है। यह कामप्र यज्ञ सर्वप्रथम प्रजापति के पुत्र परमेष्ठी ने किया और वह सर्वव्यापक हो गया। उसने अपने पिता प्रजापति को भी यही यज्ञ करवाया, वह भी सर्वव्यापक हो गया। प्रजापति ने यह यज्ञ इन्द्र को करवाया और इन्द्र ने अग्नि तथा सोम को। इस प्रकार वे सब यज्ञ द्वारा सर्वव्यापक हो गये। यह पंचपर्वा विश्व की उत्पत्ति का वर्णन है। यज्ञ को पांक्त कहा जाता है। पांक्त का अर्थ है पंचभाव। यहाँ पंचपर्वा विश्व के सन्दर्भ में प्रजापति ब्रह्मा, परमेष्ठी विष्णु, इन्द्र, अग्नि और साम-- इन पंचक्षरों का वर्णन है। इन पांच से क्रमशः प्राण, आप्, वाक्, अत्राद और अन्न ये पांच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण वाक् अव्यय की पांच कलाएं हैं। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम अक्षर की पांच कलाएं हैं तथा प्राण वाक्, आप्, अत्राद और अन्न क्षर की पांच कलाएं हैं। इन पन्द्रह के साथ मिलकर परात्पर पुरुष सोलहवां है। यही षोडशी यज्ञ का आलम्बन है। हमारे व्यक्तित्व में पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व है- स्वयम्भू का प्रतिनिधि अव्यक्त है, परमेष्ठी का महान्, सूर्य का बुद्धि, चन्द्रमा का मन और पृथिवी का शरीर।

अव्यय की पाँच कलायें

अव्यय चित् हैं अक्षर चेतना है अव्यय अक्षर पर दो प्रकार की चिति करता है- अन्तश्चिति और बहिश्चिति। रस भाग की चिति अन्तश्चिति कहलाती है, बल भाग की चिति बहिश्चिति कहलाती है। इनमें मन में बल और रस की समान अवस्था रहती है। विज्ञान में रस मुख्य होता है किन्तु बल भी रहता है। आनन्द में रस ही रहता है बल प्रसुप्त रहता है। इसी तरह प्राण में रस रहता है किन्तु बल मुख्य हो जाता है। इस प्रकार वाक् में रस नहीं के बराबर रहता किन्तु बल ही रहता है। इस प्रकार अव्यय की पाँच कलायें होती हैं-

१. जिस रस ने अपनी प्रधानता से बल को सर्वथा अभिभूत कर लिया है, ऐसे रस का नाम ही 'आनन्द' है।
२. जिस रस में बल किञ्चित् मात्रा में उल्वण है, वही रस 'विज्ञान' है।
३. रसबल की समानावस्था ही 'मन' है।
४. रस किञ्चित् मात्रा में उल्वण, किन्तु बल से अभिभूत रहे वही 'प्राण' है।
५. रस को सर्वथा अभिभूत करने वाला बल ही 'वाक्' है।

पञ्चीकरण यज्ञ से पञ्चजन, और पुरञ्जनों से सृष्टि

दर्शन में पञ्चीकरण की प्रक्रिया प्रसिद्ध है। पञ्चीकरण का अर्थ है कि किन्हीं भी पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का आधा भाग तथा शेष आधे में बाकी बचे हुए चार तत्त्वों का बराबर-बराबर भाग मिलाकर एक ऐसा रूप दे देना जिसमें पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का भाग सर्वाधिक रहे, किन्तु न्यूनमात्रा में शेष चार तत्त्वों का भी भाग रहे। दर्शन में पञ्चतन्मात्राओं में पञ्चीकरण की प्रक्रिया से पञ्चभूतों की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, किन्तु वैदिक वाङ्मय पर दृष्टि डालने से यह पञ्चीकरण की प्रक्रिया बहत विस्तार से समझ में आती है। यह पञ्चीकरण वस्तुतः पाँच स्तरों पर होता है- गुणों के पञ्चीकरण से अणु, अणु के पञ्चीकरण से रेणु, रेणु के पञ्चीकरण से भूत और भूतों के पञ्चीकरण से महाभूत बनते हैं। ये महाभूत ही पञ्चपर्वा विश्व को बनाते हैं। गुण की स्थिति में क्षरब्रह्म की पाँच कलाएँ हैं- प्राण, वाक्, आपः, अन्न और अत्राद। ये ही विश्वसृष्टि कहलाती हैं। ये विश्व का निर्माण करती हैं, इसलिये इन्हें विश्वसृष्टि कहा जाता है- **विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त।** (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.९.८)। इन पञ्च विश्वसृष्टि अथवा गुणों के पञ्चीकरण से पञ्चजन उत्पन्न होते हैं जिन्हें दर्शन में अणु कहा जाता है। ये पञ्चजन भी प्राण, वाक्, आप, अन्न और अत्राद नाम से ही जाने जाते हैं। इन पञ्चजनों में जितनी बार पञ्चीकरण होता है उतनी बार मूलतत्त्व का अंश कम होता है

और यौगिकता अधिक होती जाती है। यह सूक्ष्म की यौगिकता ही स्थूल बनाती है। अब इन पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन बनते हैं, उनका नाम वेदपुरञ्जन, लोकपुरञ्जन, देवपुरञ्जन, भूतपुरञ्जन तथा पशुपुरञ्जन है। प्राण से वेद, आपः से लोक, वाक् से देव, अन्नाद से भूत तथा अन्न से पशु बनता है। पुरञ्जन-अवस्था में पदार्थ की झाँई सी दिखाई देती है। जब इन पुरञ्जनों में भी पञ्चीकरण होता है तो भूत बनता है। भूत बनते ही तत्त्व स्थूल रूप ले लेता है। इन भूतों के पञ्चीकरण से पञ्चमहाभूत बनते हैं। जिनका नाम पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश है। ये ही पञ्चमहाभूत पञ्चपर्वा विश्व को बनाते हैं। पञ्चजन तक ब्रह्म अव्यक्त है। पुरञ्जन से लेकर महाभूत तक व्यक्त है। पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया को ही पुरुषसूक्त में सर्वहुतयज्ञ कहा गया है। विश्व के जो पाँच पर्व हैं, उनमें क्रमशः क्षर की पाँच कलायें मुख्य हैं; अर्थात् स्वयम्भू प्राणमण्डल है, परमेष्ठी आपोमण्डल, सूर्य वाङ्मण्डल, चन्द्र अन्नादमण्डल और पृथिवी अन्नमण्डल।

इन पाँचों में स्रष्टा स्वयं प्रविष्ट है। इसे अग्नि, प्रजापति, इन्द्र अथवा प्राण भी कहते हैं। यह गुणों में पुरुषरूप में है, अणुओं में अग्निरूप है, रेणु में प्रजापति है, भूतों में इन्द्र है और भौतिक पदार्थों में प्राण है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिव्याप्य मूर्तिभिः।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ (मनुस्मृति १२/१२३/१२४)

घट का दृश्यपक्ष वाक् है, क्षर की परिवर्तनशीलता प्राण है, वह अक्षर है। घट का ज्ञान मन है, वह अव्यय है। इस प्रकार तीनों पुरुष सब पदार्थों में रहते हैं। क्षर विश्व है, अक्षर विश्वकर्ता है, अव्यय विश्वसाक्षी है। प्रजापति का एक रूप अजायमान है, अनिरुक्त है, जिसका वर्णन यजुर्वेद में इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भवानि विश्वा॥

(यजुः संहिता ३१.१९)

यह प्रजापति सर्वव्यापक है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ (ऋग्वेद

१०.१२१.१०)

यज्ञ से गर्भस्थ शिशु का विकास क्रम

प्रारम्भिक रूप में गर्भ शान्त है। उसका सम्बन्ध स्वयम्भू से है। पंचम मास में परमेष्ठी के देव विष्णु और सूर्य के देव इन्द्र के प्रभाव से इस गर्भ में गति-आगति रूप क्रिया होने लगती है। गर्भ से बाहर आकर जो पाचन क्रिया और श्वास-प्रश्वास आदि क्रिया होती है वह परमेष्ठी से जुड़े महानात्मा का कार्य है जबकि नाड़ी तन्त्र का ज्ञान तथा कर्म इन्द्र से जुड़े विज्ञानात्मा का कार्य है। भूतात्मा से जुड़े अग्नि से शरीर का निर्माण होता है और चन्द्र से जुड़े प्रज्ञानात्मा से मन का निर्माण होता है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा विकास का जो क्रम विश्व में है वही व्यष्टि में भी है। यही पिण्ड में ब्रह्माण्डीय यज्ञ का निदर्शन है।

अग्नि में सोम की प्रथम आहुति: गोसव यज्ञ

गोसव यज्ञ

ऋक्, यजु और साम में 'यजुः' यत् और जू दो तत्त्वों से बना है। यत् वायु है, जू आकाश। इनमें वायु ही गतिशील है। वही सृष्टि का मूल कारण है, वही प्राण है। यह प्राण परमेष्ठी में आकर यज्ञ करता है। इस यज्ञ से आपः उत्पन्न होता है। परमेष्ठी के तीन मनोता हैं- भृगु, अङ्गिरा और अत्रि। इनमें भृगु और अङ्गिरा का मिश्रण ही आपः है। भृगु की घन, तरल आर विरल भेद से तीन अवस्थाएँ हैं- आपः, वायु और सोम। अङ्गिरा की भी तीन अवस्थाएँ हैं- अग्नि, वायु और आदित्य। भृगु और अङ्गिरा के संसर्ग से अग्नीषोमात्मक जगत् बनता है। परमेष्ठी में होने वाला यज्ञ ही गौ है- यज्ञो वै गौः(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.६) यह गोसव यज्ञ ही समस्त सृष्टि का मूल है। इसलिये सब कुछ गौ ही है- गौर्वा इदं सर्वम्(शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.२४) परमेष्ठी में इस होने वाले यज्ञ में मन, प्राण और वाक् का परस्पर सम्बन्ध बनता है। यह सम्बन्ध ही गोसवयज्ञ है। इस गोसवय यज्ञ का वर्णन इस प्रकार है- गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः(ताण्ड्य ब्राह्मण १९.१.३.१)। परमेष्ठी मण्डल विष्णु का लोक है। उसी विष्णु लोक में गौओं के होने का वर्णन यजुर्वेद में इस भाषा में है-

या ते धामान्युश्यमसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।

अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि॥

(यजुर्वेद ६.३)

कर्मों में यज्ञ का श्रेष्ठत्व

यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म बताया गया है। कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों पृथक्-पृथक् हैं। विकर्म आत्मा के पतन का कारण है, अकर्म आत्मा की उन्नति में बाधक कर्म है। यहां हम श्रेष्ठ कर्मों की चर्चा कर रहे हैं इसलिए

अकर्म और विकर्म को छोड़ देते हैं। श्रेष्ठ कर्म तीन हैं— यज्ञ, तप और दान। इनमें तप में अन्तर्वित्त को छोड़ा जाता है, दान में बहिर्वित्त को। बहिर्वित्त आत्मीय पदार्थ हैं जैसे धन, धान्य, पशु आदि। अन्तर्वित्त आत्मा का अन्तरंग भाग है। जैसे सुख आदि। तीन तप मुख्य हैं— ब्रह्मचर्य, सत्य-भाषण और अनशन। इनसे आत्मा के ऊपर आये हुए कर्म के संस्कार दग्ध होते हैं और आत्मा का धरातल ऐसा परिपक्व बनता है कि उस पर नया कर्म-संस्कार नहीं जम पाता। जो तप न कर सके वह दान करे। तप और दान की अपेक्षा भी यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि यज्ञ जीवात्मा को देवात्मा बना देता है। ये तीनों विद्या सापेक्ष कर्म हैं। ये तीनों स्वर्ग के कारण हैं इसके अतिरिक्त तीन ही विद्या-निरपेक्ष कर्म भी हैं जो पितृलोक के कारण हैं। ये तीन इष्ट, आपूर्त और दत्त हैं। इष्ट स्मार्त यज्ञ का नाम है, आपूर्त जनकल्याण के कार्य करने को कहते हैं तथा दत्त असमर्थ व्यक्ति की सहायता करना है। दत्त में देश, काल, पात्र का विचार नहीं होता, किन्तु दान सपात्र को ही दिया जाता है। इन छहों प्रकार के कर्मों में यज्ञ सर्वोत्तम है। इसलिए यज्ञ को आजीवन करना चाहिए।

यज्ञ की सफलता के सूत्र

यज्ञ के लिए दीक्षा आवश्यक है। हमारे प्राणशक्ति कम है, किन्तु सूर्यादि देवों की प्राणशक्ति बहुत अधिक है। हम अपनी प्राणशक्ति को यदि देवताओं की प्राणशक्ति से जोड़ लें तो हमारी शक्ति भी बहुत अधिक हो जायेगी, यही दीक्षा है। इसे दिव्यात्मा का आधान कहा जाता है। इस दीक्षा के आठ अंग हैं— प्रथम आहूति अथवा संकल्प है। संकल्प का कार्यरूप मं परिणत होना प्रयुक्त कहलाता है। इन्हीं दोनों का नाम क्रतु और दक्ष भी है। इन्हें ही मित्र और वरुण कहते हैं। संकल्प का सदा स्मरण बने रहना मेघा है। यह तीनों मिलकर दीक्षा कहलाते हैं। संकल्पित व्यापार में आलस्य न करना तप है। इन सबके होने पर सरस्वती अर्थात् अपने अभिप्राय को शुद्ध भाषा में प्रकट करना होता है। इन सबके अतिरिक्त पूषा अर्थात् यज्ञानुरूप सामग्री भी चाहिये। इन आठ अंगों के होने पर हमारे प्राण ऊर्ध्वगामी होने पर देवताओं से जुड़ जाते हैं। हमारी वाणी में अग्नि, नासिका में वायु और आँखों में आदित्य प्रकट हो जाता है। तभी वह यह घोषणा कर सकता है कि मैं अमृत का पुत्र हूँ।

प्राकृत यज्ञ की विशेषता

धातु जगत् से लेकर मनुष्य तक यज्ञ की यह प्रक्रिया सर्वव्यापक है। यह सब यज्ञ स्वतः सञ्चालित प्राकृत यज्ञ है जिसके ऋत्विक् अध्वर्यु, होता और ब्रह्मा स्वयं अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा है। प्रकृति इस यज्ञ को निरन्तर चला रही है, फिर भी इस यज्ञ कर्म के फल से बँधती नहीं है। यही प्रकृति का निष्काम कर्मयोग है। प्रकृति में निरन्तर आदान-प्रदान हो रहा है। किन्तु न प्रकृति को लेने में प्रसन्नता है, न देने में दुःख। यही प्रकृति का समत्वयोग है। इतना ही नहीं प्रकृति अपने ऐश्वर्य को स्वयं कभी नहीं भोगती। वृक्ष आदान-प्रदान रूप यज्ञ का अथक परिश्रम करके अन्त में फल को जन्म देते हैं, किन्तु उस फल को स्वयं नहीं खाते। फल का भोग पक्षी ओर मनुष्य करते हैं। यदि हम वृक्ष से कच्चे फल को तोड़ लेते हैं तो यह यज्ञ-ध्वंस करने की आसुरी प्रवृत्ति हुई। किन्तु फल के पक जाने वृक्ष स्वयं ही इस फल को छोड़ देता है।

यह यज्ञशेष अथवा प्रवर्ग्य अथवा उच्छिष्ट कहलाता है। इसे ही बोलचाल की भाषा में प्रसाद कहा जाता है।

प्राकृत यज्ञ से शिक्षा

इस प्रकार प्रकृति में चलने वाले यज्ञ से हमें अनेक प्रेरणाएँ मिलती हैं। कर्म करते हुए भी कर्म के बन्धन में न पड़ना, कर्मफल के प्रति अनासक्ति, अहंकार और ममत्व का त्याग, आवश्यकता से अधिक का संग्रह न करना इत्यादि बातें प्रकृति में चलने वाले यज्ञ से सीखी जा सकती हैं। जो इस प्राकृतिक यज्ञ का अनुसरण करता है, उसे कर्मबन्धन नहीं होता। शेष सभी लोग कर्मबन्धन में पड़ जाते हैं। इसलिए गीता में कहा गया है कि यज्ञ कर्म के अतिरिक्त सभी कर्म बन्धन के कारण है। यज्ञ की प्रक्रिया के कारण ही प्रकृति में एक वर्तुलाकार गति बनी रहती है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज, खाद से पत्ते और पत्तों से खाद-- इस प्रकार की वर्तुल गति से प्रकृति का चक्र सदा चलता है। जो इस चक्र में बाधा डालते हैं वे आसुरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। उदाहरणतः प्लास्टिक को लें। प्लास्टिक कभी गलकर मिट्टी नहीं बनता। अतः प्लास्टिक यज्ञचक्र का अंग नहीं बन पाता। इसीलिए वह प्रकृति में प्रदूषण उत्पन्न करता है।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों ने कर्म के द्वारा अभ्युदय का वह मार्ग प्रशस्त किया जिस मार्ग से हमारी सारी इच्छायें तो पूरी हो जायें किन्तु कर्म बन्धन का कारण न बनें; इसके लिए ब्राह्मण ग्रन्थ ने यज्ञीय जीवनशैली का प्रतिपादन किया। इस जीवनशैली में हम जो भी कर्म करते हैं उसका आधार वह शक्ति है जो हमें देवगणों से प्राप्त होती है अतः उस कर्म का फल भी हम ईश्वर को ही अर्पण करें। उसके प्रति आसक्ति न रखें-

यत्करोषि यदश्रासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ - (गीता, ९.२७)

यज्ञ में हम इसी भावना से आहुति देते हैं- **इदममुकदेवाय इदन्न मम**। अपने पारस्परिक व्यवहार में हम दूसरे का हक न छीन कर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के अनन्तर जो शेष बचे उसको ही भगवान् का प्रसाद मान कर ग्रहण करें- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम्** - (यजुर्वेद, ४०.१) जो यज्ञ में शेष बच जाता है वही यज्ञ का मानों सिर है- **शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्प्रवर्ग्यः** - (गोपथब्राह्मण, १४४.१.१.१०) सारा संसार यज्ञ शेष से ही बना है- **उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे** - (अथर्ववेद, ११.७.११) यह यज्ञ प्रकृति में निरन्तर देवगण चला रहे हैं- **देवा यज्ञमतन्वत** - (ऋग्वेद, १०.९०.६) प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में इस यज्ञ से ही सारे संसार की उत्पत्ति का वर्णन है। इसलिए कहा जाता है कि यज्ञ देवों की आत्मा है- **यज्ञ उ देवानामात्मा** - (शतपथब्राह्मण, ८.६.१.१०)

उपसंहार

कोई भी पिण्ड ब्रह्माण्ड का अवयव होने के नाते उन्हीं नियमों से संचालित होता है जिन नियमों से ब्रह्माण्ड संचालित होता है। इसलिए हमारी जीवन पद्धति के मानदण्ड इस आधार पर निर्धारित होते हैं कि ब्रह्माण्ड में कौनसी पद्धति कार्य कर रही है। ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाली कार्यपद्धति का ज्ञान ब्राह्मण

ग्रन्थों के अर्थवाद वाक्यों के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार श्रुति के आधार पर ब्रह्माण्ड की कार्य पद्धति का ज्ञान होता है और श्रुति के आधार पर स्मृति समाजव्यवस्था का प्रतिपादन करती है तथा दर्शनशास्त्र व्यक्तिगत जीवनपद्धति का निर्णय करते हैं। इसी आधार पर यह कहा गया कि मैं वही करूँ जो देवगण करते हैं- **यद्देवा अकुर्वन्स्तत्करवाणि**। इसी आधार पर कहा जाता है कि वेद सारे धर्म का मूल है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**। ब्रह्माण्ड में प्रकृति जिन नियमों के आधार पर कार्य करती है उन नियमों को किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि वेद अपौरुषेय हैं। प्रकृति के नियमों का पालन देवता, पितर और पशु तो स्वतः ही करते हैं किन्तु एक मनुष्य ही उन नियमों का अतिक्रमण करता है। इसलिये मनुष्यों को अनुशासित करने के लिये शास्त्र की आवश्यकता होती है।

हम प्रकृति का अनुकरण करें और सूर्यचन्द्र की भाँति स्वस्ति के मार्ग पर चलें- **स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**। हमारे कार्य प्रकृति के अनुसरण पर हों- **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या**। प्रकृति में कार्य किस प्रकार चलते हैं? सूर्य को देखें- रात दिन तपता है किन्तु क्षणभर के लिये भी आलस्य नहीं करता- **पश्य सूर्यस्य महिमानं यो न तन्द्रयते चरन्**। सूर्य पूरे सौरमण्डल की आत्मा है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुतश्च**। फिर भी सूर्य में कोई अहङ्कार नहीं कि कितनी ऊर्जा बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा के निरन्तर बखेर रहा है। उस ऊर्जा के बिना जड-जङ्गम कुछ भी टिक सकता। इसलिये उसे सबकी आत्मा कहा गया। विशेषता यह कि सूर्य अपना प्रकाश बिना किसी भेदभाव के छोटे बड़े सब पर बखेर रहा है। इस फलासक्ति के बिना, सम-भाव रखते हुए निरन्तर अपने धर्म का पालन करने का परिणाम यह है कि सूर्य सारे लोक का चक्षु है किन्तु उसे चक्षु के रोग नहीं व्यापते-

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-

न लिप्यते चाक्षुषः बाह्यदोषैः

सूर्य का आदर्श ही तो गीता के स्थितप्रज्ञ का स्वरूप है-- उगते हुए भी ताम्र, छिपते हुए भी ताम्र-- **ताम्र एवास्तमेति, ताम्र एवोदेति च**। इसीलिये तो भगवान् श्री कृष्ण ने कहा था कि गीता ज्ञान उन्होंने सर्वप्रथम सूर्य को ही दिया था- **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्-**(गीता ४.१) इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों ने कहा कि जो देव करते हैं, वही मैं भी करूँ- **यद्देवा अकुरवन्स्तत्करवाणि**। देव बनकर ही देवों का यजन किया जाता है- **देवो भूत्वा देवं यजेत्**। यही यज्ञीय जीवन प्रणाली है। इसी यज्ञीय दृष्टि का वितान करना विज्ञान है-- **विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्मापि च**। इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों की दृष्टि को वेदविज्ञान का नाम दिया जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक जीवन-पद्धति का आधार प्राकृतिक नियम हैं। उन नियमों में कुछ मुख्य दस नियम इस प्रकार हैं-

अनेकता में एकता

(i) प्रथम नियम यह है कि एक ही से अनेक बने हैं-**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**, (ऋग्वेद ८.५८.२) अधिदैव में एक से जो दो बने वे अग्नि और सोम हैं। विकास अग्नि है संकोच सोम है। एक ही तत्व

विकास की चरम सीमा पर अग्नि से सोम बन जाता है और वही तत्व संकोच की चरम सीमा पर सोम से अग्नि बन जाता है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। अधिभूत में यह द्वैत निरुक्त और अनिस्त के रूप में काम करता है-**उभयं वैतत्प्रजापतिर्निस्तश्चानिस्तश्च**, (शतपथ ब्राह्मण, ६.५.३.७) अनिस्त का निस्त हो जाना ही सृष्टि है। अपरिमित अनिस्त है, उससे कोई सृष्टि नहीं हो सकती, परिमित निस्त है, उसी से सृष्टि होती है। अध्यात्म में शरीर और आत्मा का द्वैत है-**आत्मा च मे तनुश्च मे**, (तैत्तिरीयसंहिता, ४.७.१.२) तत्व मीमांसा में प्रकृति और पुरुष का द्वैत है तथा आचार मीमांसा में ज्ञान और कर्म का द्वैत है।

ये सभी द्वैत परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं तथापि ये एक दूसरे के बाधक न होकर पूरक होते हैं, और परस्पर मिलकर सर्जन की क्रिया करते हैं। सोम आर्द्र है, अग्नि शुष्क है। इस द्वैत में ही सब कुछ समाहित है-**द्वयं वा इदं सर्वं शुष्कञ्चार्द्रञ्च । यच्छुष्कं तदाग्रेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्**, (शतपथ ब्राह्मण, १.६.३.२३) अनिस्त आकाश है, निस्त वायु है। ये दोनों मिलकर ही यजु बनते हैं-**यच्च जूश्च यजूः**, (शतपथ ब्राह्मण, १०.३.५.२) अध्यात्म में पुरुष और नारी का द्वैत है जो अर्द्धनारीश्वर के रूप में अभिव्यक्त होता है-

द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्धेन नारी स तस्यां विराजमसजत् प्रभुः(मनुस्मृति, १.३२)

एक द्वैत भोक्ता और भोग्य का है। सोम भोग्य है अग्नि भोक्ता है- **सोमोऽन्नमग्निरन्नादः**, (काठकसङ्कलन, १४०) एक अन्य द्वैत व्यष्टि और समष्टि का है। (तुलनीय-यजुर्वेद, ४०.१२)

इन द्वैतों में एक घटक नित्य है, उसके भेद नहीं होते। दूसरा घटक तीन भागों में बट जाता है। अग्नि के तीन रूप हैं-- अग्नि, वायु और आदित्य। निस्त के तीन रूप हैं- भूः, भुवः, स्वः। शरीर के तीन रूप हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण, प्रकृति के तीन रूप हैं- सत्व, रजस्, तमस्, अन्न के तीन घटक हैं- दधि, घृत, मधु, पुष्प भी तीन हैं- अव्यय, अक्षर और क्षर। ये सारी त्रयी वेद त्रयी का विस्तार है- ऋक्, यजु और साम।

बहुदेववाद में एकेश्वरवाद

इस समग्र दृष्टि से ही अग्नि घनता, तरलता और विरलता के कारण तीन देवों में बदल जाती है। जिसे हम घनता, तरलता और विरलता कह रहे हैं, यजुर्वेद(१.१७-१८) में उसे ध्रुव, धरुण और धर्त्र कहा गया है। पृथिवी ध्रुव है, अन्तरिक्ष धरुण है, द्यौ धर्त्र है-**ध्रुवमसि पृथिवी, धरुणमस्यन्तरिक्षं धर्त्रमसि दिवम्**। यजुर्वेद के इस वक्तव्य को हम यास्काचार्य(निरुक्त७.२) के उस वक्तव्य से जोड़ें जिसमें अग्नि को पृथिवी स्थानीय, वायु को अन्तरिक्ष-स्थानीय और सूर्य को द्युस्थानीय देवता माना गया है-**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः**। यास्क का यह वक्तव्य शतपथब्राह्मण(१.१.१.२३) के उस वचन पर आधृत है जिसके अनुसार अग्नि, वायु तथा आदित्य देवों के हृदय हैं-**अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि**। यास्काचार्य(निरुक्त७.४) ने स्पष्ट किया

है कि पार्थिवाग्नि ही अग्नि नहीं है उत्तरवर्ती दो ज्योतियाँ, वायु और सूर्य, भी अग्नि ही हैं। **अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते**। ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं। **ऐतरेय ब्राह्मण (२.३४)** स्पष्ट कहता है वायु अग्नि है-**वायुर्वाग्निः । शतपथ ब्राह्मण(६.३.१.२९)** कहता है आदित्य भी अग्नि है-**असावादित्य एषोऽग्निः**। यही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अग्नि भी प्राण है-**प्राणा अग्निः(शतपथ ब्राह्मण, ६.३.१.२९)**। वायु भी प्राण है- **वातः प्राणः(ऐतरेय ब्राह्मण २.३४)** तथा आदित्य भी प्राण है- **असावादित्यः प्राणः(तैत्तिरीय संहिता, ५.२.५.४)**। इस प्रकार प्राणत्वेन अग्नि, वायु, आदित्य तीनों एक हैं। तीनों में जो क्रमशः भेद है वह पूर्वोक्त यजुर्वेद के प्रमाणानुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक से जुड़े होने के कारण है। पृथिवी पर अग्नि ध्रुव रूप है अर्थात् घन है, अन्तरिक्ष में धरुण है अर्थात् तरल है तथा द्यौ में धर्त्र है अर्थात् विरल है। घनता, तरलता और विरलता के कारण उत्पन्न होने वाला यह भेद अग्नि, वायु और आदित्य के कर्म में भेद उत्पन्न कर देता है। अग्नि पदार्थ का जनक बनता है, वायु तदन्तर्गत क्रिया का जनक बनता है और आदित्य ज्ञान का जनक बनता है। अग्नि पदार्थ का जनक है इसलिए शतपथ ब्राह्मण(९.२.२.२) में उसे विश्वकर्मा कहा गया है- **विश्वकर्माऽयमग्निः ।** वायु भी विश्वकर्मा है , किन्तु उसका मुख्यधर्म बहना है- **अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते(शतपथ ब्राह्मण, ८.१.१.७)**। आदित्य का भी विश्वकर्मा से सम्बन्ध है- **विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पातु(शतपथ ३.५.२.७)**। किन्तु आदित्य ज्ञान का आधान करता है- **स एवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं दधाति (तैत्तिरीयसंहिता, २.३.२.३)**। इस प्रकार एक ही देव अग्नि, वायु और आदित्य के रूप में क्रमशः अर्थ, क्रिया और ज्ञान का निर्माण करते हुए विश्वकर्मा होता है।

(ii) चतुर्मुख विकास का स्वरूप: शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा

ऋक्, यजु और साम की त्रयी जब अथर्व से मिलती है तो एक चतुष्क बनता है। ऋक्, यजु और साम जिन अग्नि, वायु और आदित्य का विस्तार हैं वे तीनों अग्नि के ही स्वरूप हैं-**अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्निरुच्येते**-(निस्त, ७.४) अतः ऋक्, यजु और साम आग्नेय वेद है, जबकि अथर्ववेद सोमवेद है-**सोममयो ह्ययं वेदः**-(गोपथब्राह्मण, पूर्वार्चिक, २.९) अथर्ववेद का त्रयी में परिगणित न होने का यही कारण है। चार वेदों के आधार पर विकास का निम्न चतुर्मुखी रूप बनता है-

१. शरीर

जब त्रयी के साथ अथर्ववेद मिलता है तो जो चतुष्क बनता है, वह चतुष्क जीवन की सर्वांगीण दृष्टि का प्रतिनिधि है। उदाहरणतः प्रथम ऋग्वेद को लें, तो ऋग्वेद से सारे मूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं-**ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः** - (तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.१२.९.१) स्वयं ऋग्वेद अग्नि से उत्पन्न हुआ है-**सोऽग्नेरेवर्चः**-(शाङ्ख्यानब्राह्मण, ६.१०) अग्नि शरीर की रक्षा करता है- **तनूपा अग्नेऽसि**-(यजुर्वेद, ३.१७) अग्नि ही सम्पत्ति का देने वाला है-**अग्निना रमियश्चवत्**-(ऋग्वेद १.१.३) अग्नि का सम्बन्ध पृथ्वी से है। पृथ्वी परम

पुष्य का पांव है-**पद्भ्यां भूमिः**-(ऋग्वेद, १०.९०.१२) इस पांव से ही शूद्र वर्ण बना-**पद्भ्यां शूद्रः**-(ऋग्वेद, १०.९०.१४) और इस शूद्र की तपस्या से ही भौतिक सम्पन्नता उत्पन्न होती है-**तपसे शूद्रम्**-(यजुर्वेद, ३०.५) ब्रह्मचर्य आश्रम में जो तपस्या और श्रम ब्रह्मचारी करता है वही संसार को तृप्त करते हैं-**ब्रह्मचारी श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति**-(अथर्ववेद, ३०.५) ऋग्वेद के आधार पर यह जीवन दृष्टि का प्रथम घटक बनता है जिसका आधार शारीरिक पुष्टि है।

२. मन

शारीरिक पुष्टि के बाद मानसिक तुष्टि का प्रश्न आता है। मन का संबंध यजु से है-**मनो यजुः प्रपद्ये**-(यजुर्वेद ३६.१) समस्त गति यजु से जुड़ी है-**सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्**-(तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.१२.९.१) मनोरथ की पूर्ति के लिए रथ की धुरी मन ही है-**मनोऽस्या अन आसीत्**-(ऋग्वेद, १०.५८.१०) आर्थिक सम्पन्नता व्यापार से होती है और व्यापार के लिए गतिशीलता आवश्यक है-

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि-(अथर्ववेद, ३.१५.२)

३. बुद्धि

अर्थ और काम का नियन्त्रण धर्म के द्वारा होता है। धर्म की रक्षा क्षत्रिय का कार्य है-**धृतव्रताः क्षत्रियाः**-(ऋग्वेद, १०.६६.८३) यह कार्य तेज के द्वारा सम्पन्न होता है। समस्त तेज का मूल सामवेद है-**सर्व तेजः सामरूप्यम्**-(तैत्तिरीयब्राह्मण, १३.१२.९.१) क्षत्रिय में यह तेज पराक्रम का है और वानप्रस्थ में तपस्या का -**तस्माद्दे नान्यत्परमस्ति तेजः**-(अथर्ववेद, १९.५३.४) इन दोनों प्रकार के तेजों से धर्म की रक्षा होती है। धर्म का निर्धारण बुद्धि करती है।

४. आत्मा

धर्म से भी ऊपर मोक्ष है, मोक्ष का आधार अद्वैतवाद है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः-(यजुर्वेद, ३१.१)

सोम अमृत तत्व है-**अपां सोमममृता अभूम**-(ऋग्वेद, ८.४८.३) इस अमृत तत्व को प्राप्त करके साधक कृतकृत्य हो जाता है-**रसेन तृप्तो न कुतश्चनोः**-(अथर्ववेद, १०.८.८४) यही अभय पद है-**तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योः**-(अथर्ववेद, १०.८.४४)

इस प्रकार त्रयी अथर्ववेद के साथ मिलकर चार पुस्वार्थ, चार आश्रम और चार वर्णों की प्रतिपादक है। ऐसी चतुर्मुखी दृष्टि हमें वेद से प्राप्त होती है जिस ओर हमारा ध्यान ब्राह्मण ग्रन्थ आकृष्ट करते हैं।

वैदिक जीवनदृष्टि की सर्वाङ्गीणता

जन साधारण में यह धारणा प्रचलित है कि वैदिक कर्म बन्धन का कारण है और ज्ञान की उपेक्षा हेय है। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान और कर्म के बीच यह विरोध उस खण्डित दृष्टि का परिणाम है जो आत्मा और शरीर को खण्ड खण्ड करके देखता है और उनमें से एक को ग्राह्य तथा दूसरे को हेय मानता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक जीवन दृष्टि की विशेषता यह है कि वेद न इहलौकिक की उपेक्षा करता है, न पारलौकिक की। उसकी दृष्टि से न शरीर उपेक्षणीय है, न आत्मा। वैदिक दृष्टि ठोस धरातल पर उतनी ही दृढ़ता से खड़ी है जितने लाघव से आकाश में ऊँची उड़ान ले सकती है। वैदिक जीवन दृष्टि की ऐसी सर्वव्यापकता का आधार है- समग्र दृष्टि। वेद जीवन को अखण्ड मानते हैं। उसे शरीर और आत्मा, लोक और परलोक से तोड़कर नहीं देखते। विश्व, विश्वचर और विश्वातीत में मौलिक भेद नहीं है। एक ही तत्त्व अपने क्षर, अक्षर और अव्यय रूप तीनों में ओतप्रोत है। आधिदैविक स्तर पर अग्नि, वायु और आदित्य एक ही तत्त्व के घन, तरल और विरल रूप हैं, आधिदैविक स्तर पर एक ही विश्व अधोभाग, मध्य भाग और ऊर्ध्वभाग की दृष्टि से पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ बन गया है तथा अध्यात्म के क्षेत्र में शरीर, मन और बुद्धि एक ही प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् की परिणति है। वाक्, प्राण और मन का परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में कर्म और ज्ञान के बीच जो विरोध परवर्ती चिन्तकों ने दिखाने का प्रयत्न किया, उसके लिए वैदिक जीवन दृष्टि में कोई स्थान नहीं है। यजुर्वेद की तो स्पष्ट घोषणा है कि जो कर्म और ज्ञान की साथ-साथ उपासना करता है, वह कर्म द्वारा मृत्यु को पारकर के, ज्ञान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। वैदिक जीवनदृष्टि में मृत्यु और अमृत अन्योन्याश्रित हैं। अमृत का अर्थ है स्थिरता, मृत्यु का अर्थ है परिवर्तनशीलता। इन्हें ही रस और बल भी कहते हैं।

खण्ड-खण्ड करके देखने वाली दृष्टि जड़ और चेतन में मौलिक अन्तर मानती है, किन्तु वेद की अखण्डतापरक समग्र दृष्टि से जड़ और चेतन में क्रमशः इन्द्रियों के व्यक्त न होने तथा इन्द्रियों के व्यक्त होने का भेद है, मौलिक भेद नहीं है। परवर्ती दर्शन में एक भेद पुरुष और प्रकृति के बीच किया गया है, किन्तु वैदिक दृष्टि भूत को भी क्षर-ब्रह्म कहकर प्रकृति और पुरुष के बीच कोई मौलिक भेद नहीं करती। ईश्वर और जीव के बीच भी कोई भी मौलिक भेद वैदिक दृष्टि में नहीं है। इस मूलभूत एकता को ही वेद ब्रह्म कहता है।

पुरुषार्थचतुष्टय

व्यक्तित्व के चार अङ्ग-शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा है। उनसे जुड़े चार पुरुषार्थ हैं- अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इस चतुष्टय की अपेक्षा जीवन दृष्टि के भी चार ही पक्ष हो जाते हैं। प्रथम पक्ष शारीरिक है, जिसे जीवन का बाह्यपक्ष कहा जाता है। जिसे हम भौतिकवाद कहते हैं, उसका सम्बन्ध मुख्यतः इसी पक्ष से है। प्रत्यक्षवादी के लिये यह पक्ष प्रमुख है। जो राजनीति के क्षेत्र में धर्म-निरपेक्षता की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय यह होता है कि राजनीति को धर्म से कुछ लेना देना नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्म आन्तरिक जीवन से जुड़ा हुआ है और राजनीति आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। यह दृष्टि जीवन को खण्ड खण्ड करके देखने की दृष्टि है। वस्तुस्थिति यह है कि जीवन अखण्ड है, इसलिये बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन जैसे दोनों एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध खण्ड नहीं हैं, प्रत्युत दोनों में एक दूसरे से जुड़ा रहने का भाव है।

जीवन का दूसरा पक्ष काम पुरुषार्थ है, जिसका सम्बन्ध मन से है। शरीर की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, आन्तरिक है, किन्तु बुद्धि की अपेक्षा मन स्थूल है, बाह्य है। इसलिये मन शरीर और बुद्धि के मध्य में है। अर्थ हमारे जीवन की अपेक्षाओं को पूरा करता है। काम हमारे मन को तृप्त करता है। काम भी प्रत्यक्ष जीवन का ही अङ्ग है। इसलिये इसे भी हम भौतिक पक्ष के अन्तर्गत ले सकते हैं।

बुद्धि जीवन दृष्टि का तीसरा पक्ष है। यह बुद्धि विवेक द्वारा शरीर और मन को नियन्त्रित करती है। यह नियन्त्रित करने का कार्य ही धर्म कहलाता है। यदि धर्म का अङ्कुश न हो तो अनियन्त्रित अर्थ और काम अव्यवस्था का कारण बनते हैं। इसलिये धर्म को समाज का धारक माना जाता है। अर्थ और काम हमारे स्वार्थ पर टिके हैं। बुद्धि हमें यह विवेक देती है कि हमें अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरों के स्वार्थ का भी ध्यान रखना है।

शरीर, मन और बुद्धि तीनों ही एक दूसरे को अपेक्षा क्रमशः सूक्ष्म होने पर भी हमारे प्रत्यक्ष जीवन से ही जुड़े हैं। इसलिये कोई ऐसी संस्कृति नहीं है, जो अर्थ, काम और धर्म पर विचार न करे। साम्यवाद जैसी विचारधारा भी यद्यपि अपने आपको धर्म-निरपेक्ष कहती है, किन्तु वह वस्तुतः धर्म की विवेचना पर ही टिकी है। साम्यवादी जब शोषण का विरोध करता है, धन के समान वितरण की बात करता है, भोग को नियन्त्रित करने की बात करता है, तो धर्म की ही बात कर रहा है। जिस अर्थ में साम्यवादी धर्म को नकारता है, धर्म का वह अर्थ भले ही पश्चिम मानता हो, भारत नहीं मानता। हमारे लिये धर्म परलोक का ही विषय नहीं है, इस लोक का भी विषय है। इसलिये अर्थ, काम और धर्म तीनों का एक अलग वर्ग है, जिसे त्रिवर्ग कहा जाता है।

आत्मा केन्द्र में है। यह परम सत्य है। उपनिषद् इसे सत्य का भी सत्य कहते हैं- **सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्वे एकीभवन्ति**। किन्तु जिस बुद्धि, मन और शरीर से यह आवृत है, वे भी सत्य हैं नाम बौर रूप भी सत्य हैं- **नामरूपे सत्यम्** (शतपथब्राह्मण १४।४।४।३) ऐसी स्थिति में मनुष्य परम सत्य आत्मा के पुरुषार्थ 'मोक्ष' को केन्द्र में रखकर भी शरीर, मन और बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता, अतः अर्थ, काम और धर्म का भी यथायोग्य सेवन करता है- **धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो होकसक्तः स जनः जघन्यः**। इन चारों पुरुषार्थों के बीच सामञ्जस्य की स्थापना ही सन्तुलित वैदिक जीवन दृष्टि है, जिसकी नींव पर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था खड़ी है।

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा शरीर की पुष्ट किया जाता है। गृहस्थाश्रम में युक्त आहार विहार रखते हुए मन को सन्तुष्ट किया जाता है। वानप्रस्थ मं ज्ञान की साधना द्वारा बुद्धि के तृप्त किया जाता है और संन्यासाश्रम में आत्मा से जुड़कर आसकाम हुआ जाता है। यह एक मनुष्य की जीवनयात्रा की समय-सारिणी है, जिसे आश्रम व्यवस्था कहा जाता है। इसमें अर्थ, काम के अभ्युदय तथा मोक्ष के निःश्रेयस के बीच आपाततः दिखाई देने वाले विरोध का परिहार करता है बुद्ध्यनुबन्धी धर्म। इसलिये कणाद ने कहा- **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**(वैशेषिक सूत्र १।१।१)

धर्म से मोक्ष होता है यह बात तो हमारी समझ में आती है- लेकिन यह बात भी परमार्थतः ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा हमने ऊपर कहा है कि मोक्ष तो धर्म-अधर्म दोनों से परे है-तथापि यह बात तो बिल्कुल ही समझ में नहीं आती कि धर्म से अर्थ और काम सिद्धि होती है, इसलिये इस बात को महाभारत में व्यास को दोनों हाथ उठाकर बलपूर्वक कहना पड़ा-

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते ॥

व्यास की बात किसी ने नहीं सुनी, इसलिये उन्हें बुद्धियोग की प्रतिपादक कृष्णोक्त गीता का समावेश महाभारत में ही करना पड़ा, जिसमें धर्म प्रधान बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ।

योगसूत्र में पाँच क्लेश गिनाये- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः**। इनमें राग और द्वेष को एक शब्द में आसक्ति कह सकते हैं। साँख्य दर्शन में बुद्धि के भी चार ही गुण गिनवाये गये हैं- ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म। इन चार गुणों से क्रमशः चार दोष निवृत्त होते हैं। ज्ञान से अविद्या दूर होती है, यह स्पष्ट है। अस्मिता का अर्थ है अपने को छोटा मानना। बुद्धि का ऐश्वर्यभाव इसे दूर करता है। ऐश्वर्य का अर्थ है- अपनी परिपूर्णता का आभास।

आसक्ति वैराग्य से दूर होती है। अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय धर्म से दूर होता है। इस प्रकार बुद्धियोग ही धर्म की उपासना है। यही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रश्न शेष रहा अर्थ और काम का। अर्थ का सम्बन्ध शरीर से है, काम का मन से। कामना की साहित्य में बहुत निन्दा है, किन्तु इस दृष्टि के प्रारम्भ में काम ही उत्पन्न हुआ था- **कामस्तदग्रे समवर्तताधि**(ऋग्वेद १०।७।१२९) अतः कामनाओं को सर्वथा निर्मूल नहीं किया जा सकता। काम के आधार पर ही सब आदान-प्रदान टिका है- **कामो हि दाता कामः प्रतिगृहीता**(तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।६) इसलिये सारा यज्ञ काम से प्रेरित होता है- **सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते**(तैत्तिरीयसंहिता २।४।११।२) जो यज्ञ स्वयम्भू से लेकर परमेष्ठी, सूर्य आदि ने किया था, वह भी कामप्र अर्थात् काम से सम्बद्ध कहलाया। निष्कर्ष यह है कि वेद की दृष्टि में एक सन्तुलन है। परवर्ती दशन मोक्ष-केन्द्रित हो कर अभ्युदय-निरपेक्ष हो गये और इस कारण उनकी व्यावहारिकता सन्दिग्ध हो गयी। इस कमी को श्रीमद्भगवद्गीता ने दूर किया।

(iii) सब कुछ चेतन है

ब्राह्मण ग्रन्थों ने हमें यह दृष्टि प्रदान की कि संसार में कुछ भी जड़ नहीं है क्योंकि एक ही अनेक हुआ है, जब एक से अनेक बनते हैं तो यह चेतन की प्रक्रिया है जैसे एक ही बीज से तना, शाखा, पत्ते, फूल और फल बनते हैं, इसका अर्थ है कि वृक्ष चेतन है। किन्तु जब अनेक को जोड़कर एक बनता है तो वह जड़ होता है जैसे कार इंजन, टायर और बॉडी को जोड़कर बनी है तो कार जड़ है। महात्मा बुद्ध ने इसी प्रकार रथ का उदाहरण देकर अनात्मवाद सिद्ध किया था। ब्राह्मण ग्रन्थ आत्मवादी हैं। एक ही आत्मा अपने तीन घटक मन, प्राण और वाक् के इच्छा, तप और श्रम से विविध सृष्टि की रचना करके स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाता है।

(iv) ब्राह्मण ग्रन्थों का खुलापन: एक वर्धमान दर्शन

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक अनुगम वाक्य हैं, उन वाक्यों का नया-नया विस्तार किया जा सकता है। उदाहरणतः **द्वयं वा इदं सर्वम्**-(शतपथ ब्राह्मण १.६.३.२३) इस वाक्य के अन्तर्गत अनेकानेक द्विक समाहित किये जा सकते हैं। जैसा कि हमने ऊपर अग्नि-सोम, निस्त-अनिस्त, शरीर-आत्मा, प्रकृति-पुरुष और कर्म-ज्ञान के द्विक दिखाये हैं। इस द्विक के क्रम को आगे भी बढ़ाया जा सकता है जैसे नित्य-अनित्य, परिमित-अपरिमित इत्यादि। इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य है-**त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि**-(शतपथ ब्राह्मण, १०.४.२.२) इस आधार पर हमने ऊपर जो त्रिक दिये हैं उनके अतिरिक्त भी अनेक त्रिक बन सकते हैं। जैसे प्राण-अपान-व्यान, प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवन एवम् गायत्री-

त्रिष्टुभ्-जगती इत्यादि। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का चिन्तन खुला है। उन्होंने कुछ सांचे दे दिये। जिनमें पूरे अस्तित्व को दो, तीन या चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन सांचों में समाहित किये जाने वाले द्विक, त्रिक अथवा चतुष्कों के वर्गों की संख्या नियत नहीं है; तर्क बल पर अनेकानेक द्विक, त्रिक या चतुष्क बनाये जा सकते हैं। यह ब्राह्मण ग्रन्थों की दृष्टि को लचीला बनाता है।

(v) असीम और ससीम

चेतना सर्वव्यापक है वह आभु है। उससे जो सृष्टि पैदा हुई वह सीमित है उसका नाम तथा रूप है, वह परिवर्तनशील है उसे अभ्व कहते ह। समग्र दृष्टि में आभु और अभ्व दोनों का समन्वय रहता है। आभु ज्ञान का विषय है, अभ्व कर्म का क्षेत्र है। ज्ञान स्थिर है और अमृत है। कर्म गतिशील है और मरणधर्मा है। ज्ञान के बिना कर्म निराधार है और कर्म के बिना ज्ञान को अभिव्यक्ति नहीं मिलती। सृष्टि में ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। इन दोनों में से किसी एक की उपेक्षा कर देना जीवन को एकांगी बना देता है।

समता

दृष्टि में समता, व्यवहार में सापेक्षता

त्रिवृत्करण के अनुसार पृथिवी पर अग्नि अग्नि है शेष दो देव, वायु और आदित्य, उसमें आहुति बन रहे हैं, इसलिए उनकी सोम सञ्जा हो जायेगी। किन्तु यदि अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ को देखें तो वहाँ वायु मुख्य देवता है; उसकी अग्नि सञ्जा होगी और उसमें आहुति रूप में पड़ने वाली अग्नि (जिसकी यहाँ पावक सञ्जा है) तथा आदित्य (जिसकी यहाँ मरुत्वान् सञ्जा है) को हम सोम कहेंगे। इस प्रकार अग्नि पृथिवी पर चलने वाले यज्ञ में अग्नि है और अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ में सोम है। इसके विपरीत वायु अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ में अग्नि है और पृथिवी में चलने वाले यज्ञ में सोम है। ऐसी स्थिति में अग्नि या सोम में किसी को बड़ा मानें? अग्नि और वायु दोनों में एक जगह अग्नि बड़ा होगा और दूसरी जगह वायु बड़ा होगा, और इस प्रकार दोनों समकक्ष हो जायेंगे। स्थान भेद से एक जगह एक बड़ा होगा और दूसरी जगह दूसरा। हमारा इस चर्चा को करने का अभिप्राय यह है कि यज्ञ हमें यह शिक्षा देता है कि सब समान हैं; न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। किन्तु व्यवहार क लिये किसी स्थान पर एक को दूसरे के काम आने के लिये छोटा बन जाना चाहिये, अन्यथा सृष्टि का व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। इसे ही हम इस रूप में भी कहते हैं कि व्यवहार में सब विषम हैं, दृष्टि में समान हैं। व्यवहार में समानता का दुराग्रह करना अराजकता को जन्म देना है तो दृष्टि में विषमता रखना अन्याय को जन्म देना है। फ्रांस की क्रान्ति के बाद समानता का नारा पूरे विश्व में फैल गया। भारतीय संविधान के प्रथम पृष्ठ पर जिन मूल्यों का उल्लेख है समानता भी उनमें से एक है, किन्तु समानता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध, सेव्य-

सेवक सम्बन्ध, पितृ-पुत्र सम्बन्ध के बीच जो बड़े छोटे के विवेक पर आश्रित आचरण है उसका लोप कर दिया जाये; न ही इसका यह अर्थ है कि आत्मदृष्टि से जो प्राणिमात्र में ब्रह्मबुद्धि के आधार पर समदृष्टि है इसका लोप कर दिया जाये। सङ्क्षेप में दृष्टि की समानता और व्यवहार में प्रसङ्गानुकूल यथोचित व्यवहार वैदिक समाजदर्शन का मेरुदण्ड है। एक अध्यापक के नाते मेरा कर्तव्य है कि बिना किसी भेदभाव के अपने सभी छात्रों के प्रति समान दृष्टि रखते हुए सबको प्रगति का समान अवसर दूँ, सबकी सब प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने में सब प्रकार से सहयोगी बनूँ। यह समदर्शिता का अर्थ है, किन्तु समता का कट्टर से कट्टर पक्षपाती भी मुझसे यह आशा नहीं करेगा कि मैं परीक्षा में सभी विद्यार्थियों को समानता के नाम पर समान अङ्क दे दूँ। वहाँ तो मुझे योग्यता की तारतम्यता के आधार पर ही अङ्क देने होंगे। न्याय की माँग है कि मैं वहाँ योग्य-अयोग्य विद्यार्थियों के बीच विवेकपूर्वक विषम व्यवहार ही करूँ। इस विवेक को पक्षपात अथवा अन्याय नहीं कहा जा सकता।

(vi) समदर्शन

ज्ञान सब के प्रति समान दृष्टि रखता है। यह सम दृष्टि है। व्यवहार सब के प्रति यथा-योग्य किया जाता है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था है। ज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है और कर्म से अभ्युदय होता है। यही वह सर्वांगीण विकास का मार्ग है।

(vii) समाजदर्शन

समाज का आधार आदान-प्रदान है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं के अतिरिक्त शेष भाग दूसरों के लिए विसर्जित कर देना चाहिए। यही यज्ञ का प्रवर्ग्य है। साथ ही हमें दूसरे का वही भाग ग्रहण करना चाहिए जो उसकी आवश्यकता के अतिरिक्त बच जाये। यही यज्ञविद्या है, जिसके आधार पर समाज का संचालन होना चाहिए।

(viii) देवऋण

समाज में प्राणियों के प्रति हमारे कर्तव्य के अतिरिक्त प्रकृति के प्रति भी हमारा कर्तव्य है। अन्न के एक दाने का निर्माण तब होता है जब उसमें पृथ्वी ठोस अंश, अंतरिक्ष चिकनाई और द्यु-लोक अपना मिठास डालते हैं। वही अन्न हमारी जठराग्नि में जाकर शरीर का निर्माण करता है। इसका यह अर्थ होता है कि हमारा निर्माण प्रकृति की कृपा से हुआ है उस प्रकृति के प्रति हमें कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए।

(ix) प्रतीकाथ

ब्राह्मण ग्रन्थों को इन सभी रहस्यों को प्रकट करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा। जब भी हम सूक्ष्म या परोक्ष का वर्णन करते हैं तो अभिधापरक भाषा असफल हो जाती है। (तुलनीय- The problems of language here are really serious. We wish to speak in some way about the structure of atoms But we cannot speak about atoms in ordinary language. (Tao of Physics by Fritjof Capra. पृ. ५३ पर उद्धृत))

(The knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience, and therefore our ordinary language, which takes its image from the world of the senses is no longer adequate to describe the observed phenomena. (उपरिवत् पृ. ६० पर उद्धृत))

विशेषकर ब्राह्मण ग्रन्थ तो परोक्ष में ही चर्चा करते हैं-**परोक्षप्रिया वै देवाः**। आरण्यकों ने इन प्रतीकों का अर्थ खोला गया है। यज्ञ की पूरी प्रक्रिया का प्रतीकार्थ देते हुए तैत्तिरीयारण्यक कहता है -

यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राण उद्गाता चक्षुर्ध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीध्र यावद् धियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायंप्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रम् (तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४।१)

अर्थात् आत्मा यज्ञ का यजमान है। श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिधा है। वक्षस्थल वेदी है। लोम कुशा है। ज्ञान शिखा है। हृदय यूप है। काम घृत है। मन्यु पशु है। तप अग्नि है। दम शान्तिप्रद है। वाक् दक्षिणा है। प्राण होता है। चक्षु उद्गाता है। मन अध्वर्यु है। श्रोत्र ब्रह्मा है। जब तक व्यक्ति जीवित है तब तक उसकी दीक्षा है। जो खाता है वही हवि है। जो पीता है वह इसका सोमपान है। जो रमण करता है वह उपसद है। जो चलता है, बैठता है, खड़ा होता है, वह प्रवर्ग्य है। जो मुख है वह आहवनीय है। जो सायं प्रातः खाता है वही समिधा है। जो प्रातः मध्याह्न और सायं है, वे सवन हैं। रात और दिन दर्शपूर्णमास हैं। अर्धमास और मास चातुर्मास्य हैं। संवत्सर और परिवत्सर अहर्गण हैं। यह सर्ववेद सत्र है। मरण ही इसका यज्ञान्त स्नान है। यह अग्निहोत्र सत्र आजीवन चलता है।

(x) समग्रदृष्टि

ब्राह्मण ग्रन्थ क्योंकि चेतन को केन्द्र में रखते हैं इसलिए वे अनेकता में एकता पर बल देते हैं। यह संश्लिष्ट दृष्टि है जिसे पश्चिम में Holistic Approach कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि विश्लेषण परक है। ये दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। हमारे मस्तिष्क का एक भाग संश्लेषण दृष्टि में निपुण है दूसरा भाग विश्लेषण करने में निपुण है। मस्तिष्क का पूरा उपयोग करने के लिए दोनों दृष्टियों को ध्यान में

रखना पड़ेगा। (तुलनीय – Left hemisphere, where seems to be more specialized in analytic, linear thinking which involves processing information sequentially; the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusely and simultaneously. Fritjof Capra, The Turning Point पृ. २९३)

इस प्रकार का समन्वय ज्ञान-कर्म के समुच्चय में फलित होता है। यह समुच्चय विद्या-अविद्या, असम्भूति-सम्भूति, ज्ञान-विज्ञान, परा-अपरा आदि अनेक शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों का उपनिषद् भाग के साथ मिलकर यह समन्वित दृष्टिकोण हमारे सामने आता है। यदि हम ब्राह्मण ग्रन्थ की उपेक्षा करके केवल उपनिषद् भाग पर ही बल देंगे तो जीवन का एक पक्ष उपेक्षित हो जायेगा। दोनों का समन्वय आज के युग में पूर्व और पश्चिम को जोड़कर एक आदर्श भू-मण्डलीय (Global) दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसकी आज परम आवश्यकता है। वैसे भी दो विरोधी ध्रुवों के बीच विरोध का परिहार करना अस्तित्व की शाश्वत समस्या रही है, जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है- For all problems of existence are essentially problems of harmony- (The Life Divine, Page 6.)--

उपर्युक्त समस्त विषयों का विस्तार लेखक के निम्न पाँच ग्रन्थों में उपलब्ध है-

१. वेद विद्याप्रवेशिका
२. वेदविज्ञानवीथिका
३. वेदविज्ञानविश्वकोश (प्रकाशनाधीन)
४. Holistic Approach of the Vedas
५. Integrel World view of the Vedas

इन ग्रन्थों की अधिकतर सामग्री निम्न वेबसाईट पर निःशुल्क उपलब्ध है- www.dayanandbhargava.com